सम्पादकीय

सूच्याग्रपि न दस्यामी, बिना युद्धेन केशवः

महाभारत में कृष्ण ने दुर्योधन से यह माँग की थी कि अगर तुम पाण्डवों को उनका राजपाट और वाजिब हिस्सा नहीं दे सकते तो उन्हें गुजर-बसर करने के लिए पाँच गाँव ही दे दो। दुर्योधन ने इससे सफ इन्कार कर दिया था। उसने कहा था कि ''हे कृष्ण, बिना यु) किये हम सूई की नोंक के बराबर जमीन भी पाण्डवों को नहीं देंगे।'' उसके बाद जो महाभारत हुआ उसकी पूरी दास्तान, उसके दुष्परिणाम, उसकी विभीषिका और भयावहता से पूरी दुनिया परिचित है।

महाभारत के मूल में जमीन का सवाल था। खेती-बाड़ी का युग शुरू हो गया था और जमीन का सवाल सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन चुका था। महाभारत जिस काल की महागाथा है उसके पहले लम्बे समय से समाज के गर्भ में ज्वालामुखी पल रहा था, धीरे-धीरे उसकी आग सुलग रही थी और कभी-कभी उसका धुआँ कहीं-कहीं निकलने भी लगता था। महाभारत के यु) के रूप में वहीं ज्वालामुखी फूटा और खेती-बाड़ी करने वाले विभिन्न कबीलों के लोग सदियों तक उस विभीषिका को भूल नहीं पाये। आज भी उसे अन्धा युग के रूप में याद किया जाता है।

हमारे देश और समाज में आज भी जमीन का सवाल एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है। अंग्रेजों के शासन काल में तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रावायलार के संघर्ष और देश के अन्य हिस्सों में फैली जमीन की लड़ाई उसी प्रश्न को लेकर लड़ी गयी। जब ये संघर्ष जारी थे, तभी गाँधी के आध्यात्मिक शिष्य विनोबा भावे गरीब और भूमिहीन किसानों के संघर्ष की लपटों पर पानी डालने के लिए अपनी शिष्य-मण्डली को लेकर दौड़ पड़े और इस तरह भूदान-यज्ञ की शुरुआत हुई। लेकिन इससे प्रभावित होकर मालिक वर्गों का हृदय परिवर्तन नहीं हुआ। उन्होंने किसानों को स्वेच्छा से जमीन का उनका हिस्सा दान नहीं किया, उनका दमन करना नहीं छोड़ा। इसके विपरीत वे आन्दोलन को कुचलने के लिए एक बार फिर मैदान में उतर पड़े। भूदान आन्दोलन का यही नतीजा हुआ। वही संघर्ष आगे चलकर नक्सलबाड़ी, श्रीकाकुलम और वीरभूमि सहित देश के कई हिस्सों में फैल गया और आज भी देश के विभिन्न हिस्सों में किसी न किसी रूप में चल रहा है। साम्राज्यवादी समूह, उनके सहयोगी भारतीय पूँजीपति और जमीनों के मालिक इन संघर्षों को कुचलने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखते। लेकिन फिर भी यह फैलता ही जा रहा है। कहीं पीढ़ी दर पीढ़ी जमीन जोतते आ रहे बटाईदारों की भूस्वामियों के खिलाफ लड़ाई, कहीं विकास के नाम पर जंगल और जमीन से विस्थापित आदिवासियों की लड़ाई तो कहीं विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेजऋ) के लिए अपनी जमीन से बेदखल किसानों का आन्दोलन—जमीन की लड़ाई आज भी विविध रूपों में सामने आ रही है।

ऐसे ही समय में अपनी मैली-फटी-गन्दी टोपियों को धो-चमकाकर विनोबा के शिष्य और उनके ही जैसे कुछ और लोग एक बार फिर जमीन के सवाल पर पदयात्रा के लिए निकल पड़े। 18 राज्यों के 20,000 भूमिहीन दलितों, आदिवासियों को साथ लेकर 2 अक्टूबर को ग्वालियर से चलकर 350 किमी की दूरी तय करके 28 अक्टूबर को वे दिल्ली पहुँचे। उनके साथ 12 देशों के 250 विदेशी भी शामिल थे। जनादेश 2007 के नाम से आयोजित इस पदयात्रा की तैयारी में एक साल का समय लगा और देश-विदेश की चन्दा देने वाली संस्थाओं (फण्डिंग एजेंसियोंऋ ने इस पर करोड़ों रुपये खर्च किये। एक-एक मिनट का हिसाब पहले से तय था—कहाँ-कहाँ जायेंगे, कानून व्यवस्था में स्ती-भर भी बाधा डाले बिना कैसे सड़क पर चलेंगे, कहाँ-कहाँ रुकेंगे, क्या खायेंगे, हर चीज की पूरी तैयारी थी। 500 लोगों का एक जत्था साल भर पहले रिहर्सल के लिए चला था ताकि 'असली' यात्रा के समय आने वाली परेशानियों का पहले ही अन्दाजा लगाकर उन्हें दूर कर लिया जाये। अपने तामझाम और शानो शौकत में यह रैली भूमिहीन, गरीब किसानों, दलितों, आदिवासियों की परम्परागत रैलियों से एकदम अलग थी जिसमें रोटी या सत्तू की पोटली लिये कटेहाल लोग, अभिजात वर्गों की फिकरत और पुलिस प्रशासन का उत्पीड़न सहते दिल्ली पहुँचते थे।

आयोजकों का कहना था कि राज्य सरकारों ने इस आयोजन में उनकी भरपूर सहायता की और प्रशासन ने कहीं कोई बाधा नहीं खड़ी की। जब वे दिल्ली पहुँचे तो ग्रामीण विकास मन्त्री विशेष रूप से उनकी मदद के लिए आगे आये। उन्होंने प्रधानमन्त्री तक उनकी बात पहुँचायी। प्रधानमन्त्री ने भूमि-सम्बन्धों और भूमि सुधार से सम्बन्धित दो कमेटियों के गठन की तत्काल घोषणा कर दी। द्धक्या पता इन सारी बातों का भी पहले से ही रिहर्सल किया गया हो।ऋ सब कुछ योजनाब), सब कुछ चाक-चौबन्द।

योजना आयोग के आकलन के मुताबिक भूमि से सम्बन्धित मुद्दे नक्सलवादी आन्दोलन को बढ़ावा देने वाले बुनियादी कारकों में से एक हैं। योजना आयोग ने ऐसे आठ कारणों को सूचीब) किया है, जिनमें गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासियों को जमीन से बेदखल करना, जंगल की सामुदायिक जमीन को निजी हाथों में सौंपकर आदिवासियों को उसके उपयोग के अधिाकार से वंचित करना, जंगलों को सुरक्षित घोषित करके आदिवासियों को अपनी ही पारम्परिक वन भूमि से विस्थापित करना तथा सिंचाई, बाँध, खनन और बिजली परियोजना, या शहर बसाने के लिए उन्हें बड़ी संख्या में जंगल और जमीन से उजाड़ना शामिल हैं।

इस पदयात्रा के बारे में ग्रामीण विकास मन्त्री का कहना था कि भूमिहीनों की समस्या देश की एक बड़ी समस्या है और यदि हमने इसे जल्दी हल नहीं किया तो इसके चलते ग्रामीण इलाकों में असन्तोष और हिंसा तेजी से पनपेगी। प्रधानमन्त्री भी यह मानते हैं कि नक्सलवाद देश की आन्तरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ी चुनौती है और जमीन के सवाल का हल न होना इसका बुनियादी कारण है।

लेकिन क्या वे इसे हल करने को तैयार हैं? आन्तरिक सुरक्षा के बारे में मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन में भी प्रधानमन्त्री ने नक्सलवाद के आर्थिक-सामाजिक कारणों पर विस्तार से चर्चा की। लेकिन व्यवहार में इन बुनियादी कारणों को दूर करने के बजाय सरकार पुलिस और अ)सैनिक बलों के दम पर ही इस समस्या से निपटने के तरीके अजमा रही है।

एक रिपोर्ट के मुताबिक मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के 10 लाख लोगों को यह पता नहीं कि वे वनभूमि पर रहते हैं या राजस्व भूमि पर। कारण यह कि वहाँ की 30 लाख एकड़ जमीन के बारे में सरकार इस विवाद को हल नहीं कर पायी है। इसी तरह देश के अलग-अलग राज्यों के जंगलों को बाघ परियोजना, संरक्षित वन और राष्ट्रीय उद्यान घोषित करके वहाँ पीढ़ियों से बसे आदिवासियों को उजाड़ दिया गया और अधिसूचना जारी करके उन्हें कभी भी जंगल से बाहर खदेड़ने का यह सिलसिला आज भी थमने का नाम नहीं ले रहा है।

वन अधिकार कानून का मसविदा सरकार के ठंडे बस्ते में पड़ा हुआ है। कुछ स्वार्थी तत्त्वों ने सरकार पर दबाव बनाकर इसे रुकवा दिया है ताकि आदिवासियों को जंगल और जमीन से वंचित रखा जाये और पर्यावरण की रक्षा के बहाने उसे अभिजात वर्गों का ऐशगाह बना दिया जाये।

जमीन बाँटने और भूमि-सुधारों का काम तो पिछले 60 वर्षों में सरकार ने नहीं किया, उल्टे अब नये सिरे से विशेष आर्थिक क्षेत्र द्धसेजऋ और विकास के नाम पर लगातार लोगों को उनकी जमीन से बेदखल करती जा रही है और विरोध करने वालों का बर्बर दमन कर रही है। ऐसे में क्या इस बात की रत्तीभर भी सम्भावना है कि सरकार ने गाँधी-विनोबा के इन देशी-विदेशी चेलो, विदेशी ऋण्ड पर पलने वाले इन इण्टरनेशनल ऋकीरों को जो आश्वासन दिया है, उस पर वह अमल करेगी? जिस असन्तोष और हिंसा की आशंका से मन्त्रीगण आक्रान्त हैं वह क्या इन प्रायोजित पदयात्राओं और ऋर्जी कमेटियों की घोषणा से निर्मूल हो जाएगी? हमारे शासक किसे भुलावा दे रहे हैं? जमीन से वंचित करोड़ों भूमिहीनों को या खुद अपने आपको?

विनोबा के भूदान यज्ञ की त्रासदी 60 सालों के बाद जनादेश 2007 के प्रहसन के रूप में दोहरायी गयी। एक तरु भारत के शासक जमीन के सवाल पर होने वाले संघर्षों को बन्दूक के बल पर कुचल देना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर भूमिहीनों को जमीन बाँटने की माँग को लेकर आन्दोलन का नकली नाटक आयोजित किया जा रहा है। इस नाटक के प्रायोजक साम्राज्यवादी देशों की दान दाता संस्थाएँ हैं। इनका मकसद अपने पैसों पर पलने वाले समाज सुधारकों और गैर सरकारी संस्थाओं की सहायता से जनाक्रोश के विस्फोटक दबाव को सेफ्टी वाल्व के रास्ते घुस-घुस कर निकाल देना है। जनादेश यात्रा का यही निहितार्थ है। लेकिन क्या हमारे देश के शासक अपना यह मकसद पूरा करने में कामयाब होंगे? इतिहास की इस महत्त्वपूर्ण कार्यसूची को वे कब तक टालते रहेंगे?

कोई भी अधिकार भीख या दान में नहीं मिलता। महाभारत की यह सीख आज भी प्रासंगिक है।

भारत-अमरीका नाभिकीय समझौता

❑ संजय चौधरी

संसद का शीतकालीन सत्र नाभिकीय समझौते पर बिना किसी नतीजे तक पहुँचे ही समाप्त हो गया। वाम मोर्चा की तमाम धमकियों के बावजूद प्रधानमन्त्री को अब भी इस पर सहमति की उम्मीद है। संसद के बहुमत के विरोध की भी सरकार को कोई परवाह नहीं है। वह किसी भी कीमत पर इस समझौते को लागू करने पर आमादा है। बहुमत के दबाव में कुछ समय के लिए यह 123 समझौता भले ही ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया हो लेकिन अभी उसे समाप्त नहीं समझा जाना चाहिये। राजनीतिक मौसम बदलते ही यह फिर से जीवन प्राप्त कर सकता है।

आजाद भारत के इतिहास में किसी अन्तरराष्ट्रीय समझौते को लेकर राजनीति के अखाड़े में ऐसी उठापटक और तू-तू मैं-मैं हाल के वर्षों में देखने को नहीं मिली थी। 3 अगस्त 2007 को जब समझौते की मूल प्रति जारी हुई उसके कफी पहले से ही मीडिया ने समझौते के पक्ष में ऐसा माहौल बनाना शुरू किया था, मानो नाभिकीय समझौते का विरोध करना खुद को देश-द्रोहियों की कतार में खड़ा करने के समान हो। समझौते की समर्थक लॉबी–सरकार, उसके मन्त्री, अफसर, पत्रकार और इलेक्ट्रोनिक मीडिया वाले विश्लेषक इसे ऐसे पेश कर रहे थे कि इससे बिना प्रदूषण के बिजली का उत्पादन होगा जिसे झुग्गी-झोंपड़ियों तक पहुँचाया जायेगा और केवल पूर्वाग्रही, अतीतग्रस्त और सिर फिरे लोग ही इस समझौते का विरोधी हो सकते हैं।

यह धुँआधार प्रचार अभियान इस समझौते के पक्ष में माहौल बनाने के लिए शासक वर्ग द्वारा अपनायी गयी रणनीति का हिस्सा है। समझौते के मूलपाठ को पढ़ने के बाद इसके कारण आसानी से समझे जा सकते हैं। दरअसल यह समझौता केवल शान्तिपूर्ण परमाणु ऊर्जा के लिए नहीं किया गया है। यह अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ एक व्यापक समझौते का हिस्सा है जिसे जनता की नजरों से बचाने की कोशिश की जा रही है। समझौते को लेकर उठ रही जायज आशंकाओं और ठोस सवालों का साफ-साफ जवाब देने के बजाय उन्हें खोखले और भावुक बयान बाजियों से टाला जा रहा है। ऐसे में इस समझौते की हकीकत को जानना बहुत जरूरी हो जाता है।

औपनिवेशिक चरित्रा वाला समझौता

यह समझौता असमानता पर आधारित है और सारत: एक औपनिवेशिक समझौता है। यह ऊर्जा उत्पादन के क्षेत्र में देश को आत्मनिर्भर बनाने की बढ़ती सम्भावनाओं का गला घोंटते हुए इसे अमरीका की कृपा दृष्टि का मोहताज बना देता है। इस समझौते में अमरीका को यह अधिकार दिया गया है, कि वह न सिर्फ नाभिकीय ईंधन और साजो-सामान की आपूर्ति रोक सकता है बल्कि उसे जब्त भी कर सकता है। दूसरी ओर, इसकी शर्तें भारत को स्थायी तौर पर अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ बाँध देती हैं। वैसे तो यह पूरा का पूरा दस्तावेज ही इस असमान सन्धि की सच्चाई को बयान करता है, लेकिन यहाँ हम उसके कुछ अनुच्छेदों के हवाले से अपनी बात स्पष्ट करेंगे–

● समझौते के अनुच्छेद 10, धारा द्ध2ऋ और द्ध3ऋ के अनुसार–''अमरीका द्वारा भारत को नाभिकीय सामग्री और उपकरणों का हस्तान्तरण इस समझौते के अनुसार होगा।'' लेकिन साथ में यह शर्त भी जोड़ी गयी है कि ''यह भारत और आई.ए.ई.ए. द्धअन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसीऋ के बीच विशेषत: भारत के लिए जो सुरक्षा उपाय समझौता होगा उसके अनुरूप, हमेशा उन सुरक्षा उपायों के अधीन होगा।'' पहले भारत को सुरक्षा उपाय सम्बन्धी एक समझौते के लिए आई.ए.ई.ए. के पास जाना होगा जिसकी बागडोर अमरीका के हाथ में है।

● समझौते के अनुच्छेद 5 में अमरीका को एकतरफा तौर पर यह छूट दी गयी है कि वह भारत को होने वाली नाभिकीय आपूर्ति को कभी भी बाधित कर सकता है।

● अनुच्छेद 6 (b) iv के मुताबिक ''अगर इन सब व्यवस्थाओं के बावजूद भारत को ईंधन की आपूर्ति बाधित होती है तो ''आपूर्तिकर्ता मित्र राष्ट्रों–रूस, फ्रांस और यूनाइटेड किंगडम'' को एक बैठक करके ''ऐसे कदम उठाने के लिए''

कहा जायेगा ताकि भारत की ईंधन आपूर्ति ''फिर से चालू हो सके।''

उपर्युक्त वाक्य की भाषा पूरी तरह उलझी हुई और अरेबी है। समझौते में भारत को ईंधन आपूर्ति करने वाले देश के रूप में केवल अमरीका का उल्लेख है। जाहिर है कि आपूर्ति में रुकावट भी केवल अमरीका ही डाल सकता है। लेकिन अमरीका ऐसा न करे इसकी कोई व्यवस्था समझौते में नहीं है। ऐसी स्थिति में वह केवल 'आपूर्तिकर्ता मित्र-राष्ट्रों की बैठक बुलाने के लिए' वचनब) है, आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए नहीं।

● अमरीका को ईंधन की आपूर्ति रोकने का एकतरु अधिकार देने के बाद समझौते के अनुच्छेद 14 में अमरीका को एक और एकतरु अधिकार दिया गया है। ''इस सन्धि के समाप्त होने पर या उसके पहले भी, अमरीका किसी भी नाभिकीय उपकरण, सामग्री, गैर-नाभिकीय सामग्री को, जो इस समझौते के दौरान हस्तान्तरित की गयी हो और ऐसे किसी भी विखण्डनीय पदार्थ को जो इनके इस्तेमाल से बना हो, वापस ले सकता है।''

यह अनुच्छेद सिर्फ अमरीका को नाभिकीय सामग्री वापस करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसके भी आगे जाकर अमरीका द्वारा दी गयी हर तरह की सामग्री या उससे निर्मित विखण्डनीय पदार्थ को ''उस देश की भौगोलिक सीमा या नियन्त्रण के बाहर करने'' की बात करता है। इसका बहाना बनाकर कल अमरीका भारत में सैनिक हस्तक्षेप को जायज नहीं ठहरायेगा, इसकी क्या गारण्टी है?

● इस समझौते के द्वारा अमरीका को न सिर्फ ईंधन आपूर्ति रोकने का अधिकार दिया गया है बल्कि पहले की गयी आपूर्ति को बलपूर्वक छीन लेने का अधिकार भी मिल जाता है। इसका ायदा उठाकर अमरीका भारत पर दबाव बना सकता है, उसे ब्लैकमेल कर सकता है और भारत की भावी नीतियों में अपने हितों के अनुरूप ेर-बदल करवा सकता है। अमरीका ने 1970 में अपने इसी रवैये का परिचय दिया था जब उसने '1963 की भारत-अमरीका 123 सन्धि' का सरेआम उल्लंघन करते हुए तारापुर परमाणु संयन्त्र को नाभिकीय ईंधन की आपूर्ति एकतरु तौर पर रोक दी थी।

महत्त्वपूर्ण सवाल यह भी है कि अमरीका इस समझौते के प्रावधानों का पालन करने के लिए कितना वचनब) है? अमरीका के पिछले इतिहास को देखते हुए क्या समझौते में ऐसे उपाय किये गये हैं जिनसे अमरीका को इस समझौते का पालन करने के लिए बाध्य किया जा सके?

हाइड एक्ट : भारत पर अमरीकी कानून का शासन

अमरीकी हाइड एक्ट इस समझौते के सन्दर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कानून वहाँ के प्रशासन को भारत-अमरीका नाभिकीय समझौते में दखलन्दाजी का अधिकार देता है। वैसे तो यह कानून 123 समझौते को अमरीका के अन्य कानूनों से अलग रखता है, लेकिन इसमें कुछ ऐसी शर्तें दी गयी हैं, जिनको पूरा नहीं करने पर 123 समझौते को मिली यह छूट समाप्त हो जायेगी। इस कानून के प्रावधानों के मुताबिक अमरीका भारत को तकनीक के हस्तान्तरण और खासकर उन तकनीकों को देने से इन्कार कर सकता है जिनका शान्तिपूर्ण कामों के अलावा नाभिकीय हथियार बनाने में भी इस्तेमाल किया जा सकता है। यानि भारत की नाभिकीय ईंधन की आपूर्ति सुनिश्चित नहीं होगी। अमरीका का राष्ट्रपति हर साल अमरीकी संसद में हाइड एक्ट के प्रावधानों का भारत द्वारा अनुपालन किये जाने से सम्बन्धित प्रगति रिपोर्ट पेश करेगा। यदि काँग्रेस उससे सन्तुष्ट नहीं होती है तो अमरीका इस समझौते को कभी भी रद्द कर सकता है और भारत को नाभिकीय आपूर्ति रोक सकता है। इतना ही नहीं, वह अन्य देशों द्वारा भारत को की जा रही नाभिकीय ईंधन और अन्य सम्बन्धित साजो-सामान की आपूर्ति पर भी रोक लगवा सकता है।

सरकार और समझौते के समर्थक हाइड एक्ट और नाभिकीय समझौते के बीच अटूट सम्बन्ध को जानबूझ कर नजरन्दाज करने या उस पर पर्दा डालने का प्रयास कर रहे हैं। वे दलीले देते हैं कि द्विपक्षीय समझौते इस कानून के प्रावधानों से ऊपर हैं। लेकिन समझौते के अनुच्छेद 2 द्ध1ऋ के आगे उनकी यह दलील दो कौड़ी की भी नहीं ठहरती जिसमें यह कहा गया है कि समझौते का क्रियान्वयन ''राष्ट्रीय कानूनों'' के प्रावधानों के अनुसार होगा। अमरीका के लिए इसका मतलब हाइड एक्ट से ही है। अर्थात् अमरीका समझौते का पालन करने के लिए तभी तक वचनब) है जब तक वह उसके राष्ट्रीय कानूनों द्धवर्तमान में लागू या भविष्य में बनने वाले कानूनऋ के दायरे में आता है। महत्त्वपूर्ण यह नहीं कि हाइड एक्ट भारत पर बाध्यकारी है या नहीं। मुख्य बात यह है कि अमरीका तो अपने इस कानून को मानने के लिए बाध्य है। अमरीका का यह कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उपहास है। जहाँ भारत के साथ हुए समझौते

में ''राष्ट्रीय कानूनों'' को वरीयता दी गयी है, वहीं 1985 के चीन-अमरीका 123 समझौते में कहा गया है कि कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय कानूनों को इस सन्धि के रास्ते में नहीं ला सकता। इसी तरह जापान-अमरीका 123 समझौते में भी आपसी विवाद होने पर मामले को अन्तर्राष्ट्रीय पंचाट को सौंपे जाने का प्रावधान है। अमरीका के साथ अतीत में हुए विवाद के अपने कड़वे अनुभवों को देखते हुए चीन में 123 समझौते में इस धारा को जुड़वाया। इस विवाद में अमरीकी सुप्रीम कोर्ट ने अमरीका के राष्ट्रीय कानूनों को वरीयता देने के पक्ष में फैसला सुनाया था और उन्हें लागू करवाने के लिए अमरीकी काँग्रेस को यु) से भी गुरेज नहीं करने की बात कही थी। दूसरे देशों की बात अगर छोड़ भी दें तो क्या 1963 के कड़वे अनुभवों के बाद, जब अमरीका ने 15 साल बाद अचानक अपने राष्ट्रीय कानून का हवाला देकर तारापुर संयंत्र को ईंधन की आपूर्ति रोक दी थी, भारत को भी इस तरह के प्रावधान समझौते में शामिल नहीं करवाने चाहिये थे? क्या यह हमारे देश के समझौताकारों का अमरीकी हितों के आगे समर्पण नहीं?

हाइड एक्ट के प्रावधान और शर्तें केवल नाभिकीय सहयोग तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि इसमें भारत की विदेश नीति और रक्षा मामलों के बारे में भी निर्देश दिये गये हैं। यह भारत को अमरीका की क्षेत्रीय-निशस्त्रीकरण नीति के पक्ष में खड़ा करने और विशेष तौर पर ईरान को ''रोकने, अलग-थलग करने और अगर जरूरी हो तो प्रतिबन्धित करने'' में भारत की सक्रिय भागीदारी की माँग करता है। गौरतलब है कि भारत द्वारा ईरान में अमरीकी मन्सूबे के समर्थन और अनुपालन सम्बन्धी उल्लेख इस कानून में बार-बार आया है।

समझौतों के मकड़जाल में फँसा भारत

अपनी वार्षिक प्रगति रिपोर्ट को ठीक रखने के लिए निश्चय ही भारत को एक के बाद एक अमरीकी माँगों के आगे झुकना पड़ेगा। ईरान के मामले में दो बार अमरीकी प्रस्ताव के पक्ष में वोट देना, ईरान- पाकिस्तान-भारत पाइप-लाइन परियोजना से अन्तिम चरण में पैर पीछे खींचना, कूडनकुलम बिजली परियोजना के 4 अतिरिक्त नाभिकीय रिएक्टरों को यूरेनियम की आपूर्ति करने के लिए तैयार खड़े रूस के साथ द्विपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर करने से अन्तिम समय पर पीछे हट जाना तथा अमरीका के साथ तरह-तरह के रक्षा समझौते और उसी से बड़े पैमाने पर हथियारों की खरीद-ये सभी तथ्य भारत-अमरीका सम्बन्धों में गुणात्मक बदलाव के द्योतक हैं।

जुलाई 2005 में जारी भारत-अमरीका संयुक्त वक्तव्य में पहले ही भारत सरकार ने अमरीका के साथ 10 वर्षीय सुरक्षा ढाँचा समझौते पर हस्ताक्षर किये थे जिसका नाभिकीय समझौते से गहरा ताल्लुक है। यह खर्चीला समझौता ''समान हितों के लिए'' बैलेस्टिक मिसाइल सुरक्षा के मामले में कई देशों के संयुक्त अभियानों में सहयोग करने की बात करता है। समझौता समर्थक इसे महाशक्ति के साथ ''रणनीतिक साझेदारी'' के बढ़ते कदम कहकर या नाभिकीय समझौते से अलग मामला बताकर पेश करते हैं ताकि जनता इसकी छानबीन न कर सके। सच्चाई यह है कि सुरक्षा ढाँचा समझौते से जुड़े उसके अपने स्वार्थ नहीं होते तो अमरीका नाभिकीय समझौते के लिए आगे नहीं बढ़ा होता।

इसी तरह का एक और समझौता-सम्भारतन्त्रीय मदद समझौता भारत सरकार की मन्त्रीमण्डलीय समिति के समक्ष विचाराधीन है। सरकार के सहेयोगी वाम मोर्चे के एक नेता का मानना है कि यह समझौता ''अपने प्रभावों के मामले में नाभिकीय समझौते से कहीं ज्यादा घातक है। इस समझौते के तहत भारत और अमरीका एक-दूसरे के सैन्य अभियानों, संयुक्त अभ्यासों और मानवीय सहायता अभियानों में एक-दूसरे की जल, थल और वायु सेनाओं को सम्भार-तन्त्रीय मदद मुहैया करेंगे। इसका मतलब है कि अमरीकी यु)पोतों और यु)विमानों को भारत अपने यहाँ आने, तेल भरवाने, स्फाई, मरम्मत और मनोरंजन आदि सुविधाएँ मुहैया करेगा। अमरीका द्वारा 60 देशों के साथ किये गये पैठ बनाने और परस्पर सेवा देने के समझौते द्धएक्सेस एण्ड क्रास सर्विसिज एग्रीमेण्टऋ की तर्ज पर तैयार यह समझौता भारत के सभी सैन्य प्रतिष्ठानों, सैनिक अड्डों और सभी सैन्य सेवाओं तक अमरीका की पैठ बना देगा।

जबसे नाभिकीय समझौते पर बातचीत की प्रक्रिया चल रही है, भारत की सशस्त्र सेनाओं को अमरीकी सेना के साथ जोड़ने और ''एक साथ काम करने'' की सम्भावनाएँ तलाशने की प्रक्रिया तेजी से आगे बढ़ी है। भारत की तीनों सेनाओं का अमरीकी सेना के साथ संयुक्त प्रशिक्षण और यु)ाभ्यासों में तेजी आयी है। इन यु)ाभ्यासों में अमरीका के अलावा उसके संश्रयकारियों-जापान, आस्ट्रेलिया और सिंगापुर को भी शामिल किया गया।

हालाँकि वाम मोर्चे के विरोध के चलते इन समझौतों के अमल में आने की र"तार कुछ धीमी पड़ी है, लेकिन सरकार लगातार उसी दिशा में बढ़ती जा रही है। उपर्युक्त समझौतों के अलावा अमरीका द्वारा प्रस्तावित कुछ और महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों में भी भारत को शामिल करने की कोशिश की जा रही है। इनमें पैठ बनाने और परस्पर सेवा देने का समझौता द्धएक्सेसऋ, समुद्र व्यापार सहयोग समझौता द्धमेरीटाइम को-ऑपरेशन पैक्टऋ, कण्टेनर सुरक्षा पहल द्धकण्टेनर सीक्योरिटी इनीशिएटिवऋ आदि प्रमुख हैं, जो भारत को अमरीका के साथ सैनिक सहयोग में और अधिक बाँधने वाले हैं। हथियारों और सैनिक साजो-सामान के मामले में भी भारत अमरीका और उसके संश्रयकारियों पर पूरी तरह निर्भर होता जा रहा है। इजरायल के हथियार उद्योग का इजरायल से भी बड़ा खरीददार भारत है। अमरीका के साथ भी अरबों रुपये के हथियार सौदे किये गये हैं। पहले खरीदे गये 19 करोड़ डालर के 12 रडारों और 5 करोड़ 35 लाख डालर के विशाल विमानवाही पोत यू. एस. एस. ट्रेण्टन के बाद अब भारत एक अरब डालर के 6 सी-130 जे सुपर हरकुलिस सैन्य परिवहन विमान और विशेष सुरक्षा बलों के लिए लगभग 3 करोड़ डालर के हथियार खरीदने वाला है।

इसके अलावा भारत-सरकार अमरीका के साथ कृषि, उद्योग, खुदरा व्यापार, शिक्षा आदि के क्षेत्र में भी बहुत से समझौतों में बँधी है। ये सारे समझौते और सौदे दोनों देशों द्वारा जारी संयुक्त वक्तव्य की दिशा में उठाये गये कदम हैं और इसलिए भारत सरकार की वार्षिक प्रगति रिपोर्ट का हिस्सा बनेंगे। इस सम्बन्ध में बहुत सारे तथ्य अब हमारे सामने हैं। दरअसल, अमरीका इससे कम पर मानने के लिए तैयार नहीं होगा कि भारत गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के जमाने की स्वतन्त्र विदेश नीति का परित्याग कर दे और अपने को पूरी तरह अमरीका के ऊपर निर्भर बना दे।

आइये, अब गरीबों को बिजली देने और भारत का विकास करने जैसे थोथे दावों की भी तथ्यों की रोशनी में परखा जाये जिन्हें समझौते के समर्थक बार-बार दोहरा रहे हैं। भारत का कुल ऊर्जा उत्पादन 1 लाख से 27 हजार मेगावाट है जिसमें से केवल 3900 मेगावाट ही नाभिकीय ऊर्जा से प्राप्त होता है जो कुल ऊर्जा उत्पादन का महज 3 ीसदी बैठता है। वर्तमान विकास-दर के हिसाब से वर्ष 2020 तक भारत का कुल ऊर्जा उत्पादन 3 लाख 37 हजार मेगावाट होगा। अगर इस 'महत्वाकांक्षी' नाभिकीय समझौते को क्रियान्वित भी कर दिया जाये तो वर्ष 2020 तक नाभिकीय ऊर्जा का उत्पादन हद से हद 20,000 मेगावाट तक बढ़ सकता है जो कुल ऊर्जा उत्पादन के 7 ीसदी से अधिक नहीं होगा।

ऊर्जा उत्पादन के सभी उपलब्ध विकल्पों में नाभिकीय ऊर्जा का विकल्प सबसे महँगा है। कोयले से ऊर्जा उत्पादन के मुकाबले यह डेढ़ गुना तथा गैस व जल से ऊर्जा उत्पादन के मुमाबले 2 गुना महँगा है। वैज्ञानिकों के अनुसार आयातित नाभिकीय संयन्त्रों से ऊर्जा उत्पादन की लागत 11 करोड़ 10 लाख रुपये प्रति मेगावाट बैठेगी। प्रधानमन्त्री की मानें तो भविष्य में 40 हजार मेगावाट नाभिकीय ऊर्जा का उत्पादन होगा। अगर इसमें से 10 हजार मेगावाट का उत्पादन देशी संयन्त्रों से मान लिया जाये तो आयातित संयन्त्रों से उत्पादित शेष 30 हजार मेगावाट की लागत 3 लाख 30 हजार करोड़ रुपये आयेगी। इतनी ऊर्जा का कोयले से उत्पादन करने पर लागत 1 लाख 20 हजार करोड़ और जल व गैस से उत्पादन करने पर लगभग 90 हजार करोड़ आयेगी। मतलब सफ है कि नाभिकीय ऊर्जा के उत्पादन पर लगभग 2 लाख करोड़ का अतिरिक्त खर्च आयेगा। लागत में इस विशाल अन्तर को अगर बचा लिया जाय तो इससे 20,000 पूर्णत: आधुनिक 100 बिस्तरों वाले अस्पताल या एक लाख आवासीय विद्यालय खोले जा सकते हैं। अपनी सम्प्रभुता और विदेश नीति की आजादी के रूप में चुकायी जा रही कीमत को अगर छोड़ भी दिया जाये और शु) आर्थिक लिहाज से देखा जाये तो भी क्या भारत जैसा विकासशील देश ऐसे खर्चीले विकल्प को चुन सकता है?

जाहिर है कि इस नाभिकीय समझौते की कीमत देश के आम आदमी को चुकानी पड़ेगी। क्या समझौते के पैरोकारों से यह नहीं पूछा जाना चाहिये कि इतनी थोड़ी सी और इतनी महँगी ऊर्जा के लिए भारतीय विदेश नीति और विकल्पों के चुनाव की आजादी को बन्धक बनाकर वे क्या हासिल करना चाहते हैं? क्या भारत जैसे एक विकासशील देश के लिए यह बेहतर नहीं कि वह अपनी ऊर्जा जरूरतों को देशी संसाधनों और तकनीक के आधार पर पूरा करे और आयातित नाभिकीय ईंधन के लिए एक साम्राज्यवादी देश की ब्लैकमेलिंग से बचे। हमारे उन ाास्ट ब्रीडर थोरियम आधारित रियेक्टरों की तकनीक का क्या भविष्य होगा, जो भारत में थोरियम के विशाल भण्डारों को

ध्यान में रखते हुए विकसित की जा रही हैं और भारत की नाभिकीय ऊर्जा नीति का नेहरू और भाभा के जमाने से ही मुख्य आधार रही हैं? क्या अमरीकी यूरेनियम, जिसकी निर्बाध आपूर्ति की कोई गारण्टी भी नहीं है, उस पर निर्भर हो जाना हमारे देश की स्वतन्त्र नाभिकीय ऊर्जा नीति के लिए खतरे की घण्टी नहीं है?

इन सवालों का जवाब देने बजाय समझौते के पक्षपाती बु)जीवी और सरकार आपकी देश भक्ति और मंशा पर सवाल उठा सकते हैं। आपको देशद्रोही, विकास विरोधी, गरीबों का दुश्मन और विदेशी एजेण्ट तक कहा जा सकता है। या फिर प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह की तरह खोखले और भावुक आश्वासन दिये जा सकते हैं, ''हम पर भरोसा रखिये, हम सम्माननीय लोग, एक सम्मानजनक समझौता कर रहे हैं।''

200 साल तक देश को गुलाम बनाकर रखने वाले ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रशंसा में कसीदे पढ़ने वाले एक पूर्व नौकरशाह को पता नहीं सम्माननीय और सम्मानजनक शब्दों के अर्थ मालूम हैं भी या नहीं। उसके लिए बस इतना ही कही है कि समझौता अमरीका से हो रहा है, कि बुश ने उसको समझौता करने के काबिल समझा और जब मिले तो कैसे प्यार से उसकी पीठ पर हाथ ेरा। जाहिरा तौर पर भारत को अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ औपनिवेशिक सम्बन्धों में बाँधने वाले इस समझौते को कोई ऐसा आदमी ही सम्मानजनक बता सकता है।

भारत अमरीका की साम्राज्यवादी रणनीति का अंग बनने की ओर अग्रसर

दरअसल यह समझौता भारत को अमरीकी साम्राज्यवाद की वैश्विक रणनीति का अंग बनाने की एक बड़ी योजना का हिस्सा है। अमरीका एक दीर्घकालीन योजना पर काम कर रहा है जिसके तहत वह भविष्य में चीन की ओर से सम्भावित चुनौती को ध्यान में रखकर एक चीन विरोधी मोर्चे का गठन करना चाहता है। चीन को ''नाथने'' के इस अमरीकी प्रयास में शामिल होने के लिए अगर भारत तैयार हो जाता है तो नाभिकीय हथियार रखने में अमरीका को कोई आपत्ति नहीं होगी। इस गठबन्धन में गैर नाभिकीय राष्ट्र के बजाय एक नाभिकीय शक्ति के तौर पर भारत कहीं अधिक उपयोगी होगा। 2002 की पेण्टागन की एक रिपोर्ट में अमरीका के इस मन्सूबे को देखा जा सकता है, ''हम सम्बन्धों की सफलता इस बात में देखते हैं कि हम एक रचनात्मक सहयोग कार्यक्रम बना सकें जिसके आधार पर हम भविष्य में भारत के साथ संयुक्त रूप से काम कर सकें।'' द्धभारत-अमरीका सैनिक सम्बन्ध : सम्भावनाएँ और बोधऋ

अमरीका भारत में अपने मन्सूबे को आगे बढ़ाने में सफल होता दिखायी देता है। तमाम विरोध के बावजूद भारत-अमरीका संयुक्त सैनिक अभ्यास जारी हैं। नाभिकीय शक्ति चालित ''निमित्ज'' का चेन्नई बन्दरगाह पर तेल भरवाना, सर्विसिंग करवाना और मनोरंजन के लिए डेरा डालना इसके एक प्रतिनिधि उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। भारत सरकार अमरीकी साम्राज्यवाद के इस मन्सूबे का अंग बनने के लिए कटिब) दिखायी देती है हालाँकि वह अपने इस कार्यक्रम को खुले आम स्वीकार नहीं करती। लेकिन अमरीका को ऐसा कोई डर नहीं है इसलिए अमरीकी अधिकारी उ)तता के साथ समय-समय पर इसे स्वीकारते रहे हैं। अमरीकी गृह-राज्य मन्त्री निकोलस बर्न्स के मुताबिक, ''अमरीका के लिए यह एक आसान 'रणनीतिक' विकल्प था, जब उसके सामने यह सवाल आया कि हमें भारत को अगले 35 वर्षों के लिए अकेले छोड़ देना चाहिए या अभी कुछ हद तक और भविष्य में पुरी तरह से अमरीकी नियन्त्रण व निगरानी में लेना चाहिए।'' अमरीकी गृह मन्त्री कोण्डाली जा-राइस के अनुसार ''अब गुटनिरपेक्षता अप्रांसगिक हो चुकी है और भारत को अमरीका के साथ गठबन्धन बनाना चाहिए।''

अमरीका के आर्थिक, रणनीतिक व सामरिक हित किस प्रकार इस समझौते के साथ जुड़े हुए हैं, यह और अधिक स्पष्ट हो गया जब वाम मोर्चा के दबाव में सरकार ने समझौते को ठंडे बस्ते में डाला। उस समय अफ्रीका की यात्रा पर गये मनमोहन सिंह को अमरीकी राष्ट्रपति बुश ने ोन किया और उनसे आन्तरिक दबावों से मुक्त होकर आगे बढ़ने को कहा। बहुत से अमरीकी कूटनीतिज्ञ भारत की ओर दौड़ पड़े और लोभ-लालच, छल-प्रपंच का सहारा लेकर समझौते की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की कोशिश की। निकोलस बर्न्स के इस बयान में अमरीका की बेचैनी स्पष्ट दिखायी देती है-''हम और अन्य कई सरकारें, ऐसा मानती हैं कि भारत को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए और अमरीका के साथ सम्बन्धों के एक नये युग में प्रवेश करना चाहिए।''

स्पष्ट है कि यह अमरीकी साम्राज्यवाद ही है जिसके लिए यह सौदा एक जबरदस्त अवसर प्रदान करता है।

यह नाभिकीय समझौता, बहु-ुवीय विश्व की तरफ बढ़ती दुनिया को रोकने की अमरीकी साजिश का एक हिस्सा है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन और विकासशील देशों की अगुआई करने में भारत की भूमिका खत्म की जा रही है। इस समझौते के क्रियान्वयन का अर्थ होगा, भारत के रूप में, दक्षिण-एशिया में एक अमरीकी संश्रयकारी की मौजूदगी। भारत अमरीका के उस 'वैश्विक-जनतन्त्रा के व्यवसाय' का हिस्सा बनने जा रहा है, जिसकी भयावहता की बानगी इराक अफगानिस्तान में देखी जा सकती है। सच तो यह है कि भारत-अमरीका नाभिकीय समझौता किसी भी द ष्टि से भारत के हितों के अनुकूल नहीं है। यह भारत के हुक्मरानों का एक साम्राज्यवादी देश के सामने आत्मसर्मपण है जिसमें देश की जनता के हितों को नजरअन्दाज किया जा रहा है।

आखिरकार इस समझौते को आगे बढ़ाने वाले लोग कौन हैं? क्या मनमोहन सिंह सरकार द्वारा किसी भी हद तक जाकर, तमाम विरोधों को दरकिनार करके समझौते को लागू कराने की हठधर्मिता के पीछे कोई सामाजिक वर्ग भी हैं, जिसके हित या सपने इस समझौते की सफलता के साथ जुड़े हुए हैं?

दरअसल इस समझौते के समर्थकों की लॉबी बहुत मजबूत है। अमरीका में रह रहे २० लाख अनिवासी भारतीय (एन.आर.आई.) इस नाभिकीय समझौते के प्रबल समर्थक हैं। अमरीका और भारत के नजदीकी रिश्तों से, दोनों देशों में उनके हित सुरक्षित होते हैं। इनके साथ भारत के ६ करोड़ अंग्रेजी पढ़े-लिखे, उच्च-म यवर्गीय, घनाढ्य वर्ग है। इन ६ करोड़ निवासी अभारतीय या रेसिडेण्ट नान-इन्डियन (आर. एन.आई.) को अच्छी तरह पता है कि यह नाभिकीय समझौता भारतीय विदेश नीति और अर्थव्यवस्था को अमरीका के साथ जोड़ने की मुहिम का हिस्सा है। इसीलिए ये सभी इसके समर्थक हैं। इस घनाढ्य वर्ग के स्वार्थ व सपनों की बुनावट ऐसी है कि उसमें आम भारतीय–मजदूर, किसान, दस्तकार दलित, आदिवासी, पिछड़े, भारत की बहुसंख्यक जनता कहीं नहीं है। यह अंग्रेजी पढ़ा-लिखा वर्ग अपना-साझा हित पश्चिम की चमकती दुनिया से जोड़कर देखता है और यथाशीघ्र उसका हिस्सा बनना चाहता है। ऐसे लोगों के लिए अमीरों की दुनिया और उसमें भी उसके सरताज अमरीका के साथ कोई भी गठजोड़ उनका सौभाग्य भी है और नियति भी। ये वे ही 'इण्डिया शाइनिंग' वाले लोग हैं। मुकेश अम्बानी, अजीम प्रेमजी व रतन टाटा का नाम दुनिया के अरबपतियों की सूची में देखकर इनके सपनों को सम्बल मिलता है। ''भारत, एक उभरती ताकत'' जैसे नारों से इन्हें जीवन शक्ति मिलती है और साथ ही, इन्हें इस चमकते भारत में अपना भारी हिस्सा भी मिलता है।

अभिजात भारतीयों का यह वर्ग विछले १५ वर्षों में तैयार किया गया है। वास्तव में यह समझौता भी पिछले १५ वर्षों में जारी जन विरो ी नीतियों का ही एक हिस्सा है। इन वर्षों में इसकी प ष्ठ-भूमि तैयार की गई है। आर्थिक नवउपनिवेशवादी नीतियों द्वारा इस वर्ग को ''वैश्वीऔत'' करके, शासक वर्ग में इनके साथ अपना गठबन् न मजबूत किया है। यही वर्ग उसका सामाजिक अवलम्ब है।

आजादी के लिए चले लगभग 100 वर्षों के संघर्ष के तौर-तरीकों तथा उससे बनी स्वतन्त्र भारत की नीति, अपनी सीमाओं के बावजूद कुछ अहम तत्त्वों को समेटे हुए थी। उस दौरान मेहनतकश गरीब जनता के हितों को एकदम नजरअन्दाज नहीं कर दिया जाता था बल्कि उसे साथ लेकर चलने की बात की जाती थी। नवनिर्मित राष्ट्र की राजनैतिक अखण्डता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए एक मूलत: स्वतन्त्र गुटनिरपेक्ष और उपनिवेशवाद- साम्राज्यवाद-ासीवाद विरोधी विदेश नीति की तथा अनेक धर्मावलम्बियों और संस्कृतियों को साथ लेकर चलने वाला एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की परिकल्पना की गयी थी। ये कुछ ऐसे तत्त्व थे जो भारत की घरेलू और विदेश नीति के अहम हिस्से थे।

1991 से पहले ही ये तत्त्व अपना महत्त्व खो चुके थे क्योंकि काँग्रेस, जिसके नेतृत्व में स्वतन्त्रता संघर्ष चला तथा 15 अगस्त, 1947 को सत्ता जिसके हाथों में आई, उसके चरित्र में ही इन तत्त्वों को पूरी तरह चीरतार्थ करने का बल नहीं था। परन्तु 1991 के बाद से तो आर्थिक उदारीकरण व वैश्वीकरण के नाम पर इन नीतियों का पूर्णत: परित्याग कर दिया गया। जनकल्याणकारी राज्य का मुखौटा उतारकर ेंक दिया गया तथा 80 करोड़ मेहनतकश आम जनता के हितों को खुले बाजार के र्कीले ताल में डुबो दिया गया। पिछले 15 वर्षों से भारत की मेहनतकश जनता को हाशिये पर धकेला जा रहा है। एक तरु इन घनाढ्य और नवघनाढ्य वर्गों के लिए आलीशान बहुमंजिली इमारतें, शॉपिंग माल, रेस्त्राँ, मल्टीप्लेक्स, और एक्सप्रेस हाईवे का निर्माण किया जा रहा है। दूसरी तरु, सेज के नाम पर किसानों को उनकी जमीन से बेदखल किया जा रहा है, मजदूरों के अधिकारों पर कुठाराघात किया जा रहा है। यह वर्ग इस हमले में शासक वर्ग के साथ खड़ा है। अपने लिए

अनेक सुविधाओं का 'आरक्षण' हथियाए यह वर्ग, योग्यता के नाम पर दलितों व पिछडों को प्राप्त नाममात्र के आरक्षण पर भी चीख पुकार मचाता है।

इन्हीं 15 वर्षों में भारत की विदेश-नीति को भी उलट दिया गया है। अतीत में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अगुआ रहा भारत, अमरीका के साम्राज्यवादी मन्सूबे का अंग बनने के लिए बेचैन है। वैश्विक निशस्त्रीकरण का पैरोकार रहा भारत ही अमरीका के 'राष्ट्रीय प्रेक्षपास्त्र सुरक्षा प्रणाली' का समर्थन करने वाला पहला देश था। फिलिस्तीन की उत्पीड़ित जनता के साथ खड़े रहने वाला भारत, आज इजरायल से सैनिक और सुरक्षा सौदे कर रहा है। इराक अगानिस्तान में आम जनता को तबाह करने वाले और सभी मुस्लिमों को आतंकवादी मानने वाले अमरीका के साथ खड़े होकर आज भारत ने 20 करोड़ भारतीय मुसलमानों को अपने से अलग कर दिया है। साथ ही ईरान सहित मध्य-एशिया के देशों के साथ सम्बन्धों को, अमरीका के दबाव के चलते खराब किया जा रहा है, जो हमारी ऊर्जा जरूरतों को पुरा करते हैं। इन्हीं कारणों से ईरान-पाकिस्तान-भारत गैस पाइप-लाइन योजना खटाई में पड़ गयी है।

वास्तव में, इस नाभिकीय समझौते का भारत की घरेलू व वाह्य नीति के सन्दर्भ में गहरा अभिप्राय है। इसने भारतीय शासकों की निर्लज्जता को सामने ला दिया है। इसने पिछले 15 वर्षों से शासकों द्वारा किये जा रहे इस दावे की पोल खोल दी है कि वे विदेशियों के आगे घुटने नहीं टेकेंगे। अब इस बात में किसी संशय की गुंजाइश नहीं रह गयी है कि आर्थिक नवउपनिवेशवादी नीतियों से आम जनता के हितों का कोई लेना-देना नहीं है।

इस मुद्दे पर विपक्षी दलों द्वारा मचायी जा रही हाय-तौबा भी, सही मायने में, किसी भी मुद्दे पर राजनीति करने और दुबारा सत्ता में आने का एक हथकण्डा मात्र है। भारतीय जनता पार्टी द्वारा इस समझौते का विरोध एक राजनैतिक प्रपंच ही है।

दरअसल, भाजपा के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय गठबन्धन सरकार ने ही अमरीका से इस रणनीतिक साझेदारी की शुरुआत की थी। प्रतिबन्धों को हटवाने की जल्दबाजी में, जसवन्त सिंह व स्ट्रोब टालबोट में आठ चक्र लम्बी बातचीत हुई थी।

1991 में भारत ने पहली बार अमरीका के अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक प्रशिक्षण आदान-प्रदान कार्यक्रम में हिस्सा लिया। सन् 2000 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति बिल क्लिण्टन के दौरे के बाद भारत पहला देश बना, जिसने अमरीका की 'राष्ट्रीय प्रक्षेपास्त्र सुरक्षा प्रणाली' का समर्थन किया। 11 सितम्बर को वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर पर आतंकी हमले के तुरन्त बाद वाजपेयी ने अमरीका को सैनिक सुविधाएँ देने का प्रस्ताव रखा।

सन् 2002 तक अमरीका भारत को एक ऐसे सम्भावित साझेदार के तौर पर देखने लगा था जो उसके लिए रणनीतिक व सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। 2004 में भारत व अमरीका के मध्य सुरक्षा, नाभिकी, अन्तरिक्ष और प्रक्षेपात्र के क्षेत्र में सहयोग पर बातचीत शुरू हुई।

स्पष्ट है कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने उसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाने का काम किया है जो राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन सरकार शुरू कर चुकी थी। यही कारण है कि भाजपा संसद या जनता के बीच इस मुद्दे पर किसी भी तार्किक बहस से हमेशा बचती रही है क्योंकि इससे उसकी दोगली नीति का भण्डाफोड होना निश्चित है।

वाम मोर्चा के विरोध तथा सरकार से समर्थन वापसी की धमकी के कारण समझौता कुछ समय के लिए ठण्डे बस्ते में चला गया है। चुनावी राजनीति की दलदल में धँसे व जन-आन्दोलनों से कोसों दूर वामपन्थियों की सीमाएँ उन्हें इससे आगे बढ़ने से रोकती हैं। समझौते को कुछ समय के लिए 'ठण्डे बस्ते में' पहुँचाकर वे इसकी प्रक्रिया को थोड़ी धीमी जरूर कर सकते हैं, परन्तु समझौते को कूड़ेदान तक पहुँचाने की ताकत उनमें भी नहीं है।

इन परिस्थितियों में जरूरत है एक ऐसे जन-अभियान की जिसे वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों का समर्थन प्राप्त हो। एक ऐसा अभियान जो इस सरकार, इसके समर्थकों और साथ ही साथ इसके विरोधियों के दिवालियेपन और उनकी असलीयत का भण्डाफोड़ कर सकें। साथ ही, भारत की आम जनता को इस समझौते से देश की राजनीति व अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले दूरगामी प्रभावों से अवगतत कराना भी जरूरी है।

नाभिकीय समझौते पर आगे बढ़ाया गया हर कदम, भारतीय शासक वर्गों का साम्राज्यवाद के सामने आत्मसर्मपण है। मनमोहन सिंह सरकार अमरीकी साम्राज्यवाद के वैश्विक मन्सूबे में भारत को इजरायल की तरह के एक अमरीकी लठैत की भूमिका में पहुँचाने के लिए कटिबद्ध है। आम जनता के बीच से इस समझौते का प्रबल विरोध हो, यही समय की माँग है।

साक्षात्कार

''उपभोक्तावाद और भौतिकतावाद सशस्त्र कब्जे से ज्यादा घातक हैं।''–रेम्से क्लार्क

[अमरीका के पूर्व महाधिवक्ता द्धअटार्नी जनरलऋ रेम्से क्लार्क एक विवादास्पद व्यक्ति हैं। अमरीकी मानवाधिकार आन्दोलन के इतिहास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। वे राष्ट्रपति बुश के खिलाफ महाभियोग चलाने की वकालत करने वाले एक संगठन ''महाभियोग के लिए जनमत'' से जुड़े हैं। 2004 में वे विशेष इराकी ट्रिब्यूनल के समक्ष सद्दाम हुसैन के बचाव के लिए वकीलों द्वारा गठित एक स्वैच्छिक पैनल में शामिल हो गये। हाल ही में अपनी कलकत्ता यात्रा के दौरान उन्होंने एक साक्षात्कार में वैश्वीकरण, भारत-अमरीका नाभिकीय समझौता, इराक यु) और दूसरे मुद्दों पर अपनी बेबाक राय व्यक्त की। 'द हिन्दू' में 17 दिसम्बर को छपे इस साक्षात्कार के अंश हम यहाँ साभार छाप रहे हैं।–सम्पादक]

प्रश्न : यदि कोई यह दलील दे कि आज की राजनीतिक चर्चाओं में बहुप्रचलित जुमला–''अन्तर राष्ट्रीय समुदाय'' नयी विश्व व्यवस्था में अमरीकी स्वार्थों को पूरा करने के लिए शिष्टवचन से ज्यादा कुछ नहीं है, तो आप क्या कहेंगे?

उत्तर : मैं सोचता हूँ कि जो लोग वैश्वीकरण और वर्चस्व कायम करने की ज्यादा से ज्यादा कोशिश कर रहे हैं, वे अगर यह चाहते हैं कि पूरी दुनिया मनौवैज्ञानिक तौर पर अपने को एक समुदाय मानने लगे, तो इसके पीछे उनकी यही मंशा है कि इससे उनकी ये कार्रवाइयाँ आसन हो जायेंगी।

प्रश्न : वैश्वीकरण के व्यापक प्रसार ने, जिसका अर्थ अमरीकी मॉडल के पूँजीवाद को अपनाना है, पूरी दुनिया में नयी-नयी तरह की असमानताएँ पैदा की हैं। आप इस परिघटना को कैसे देखते हैं?

उत्तर : मानव सभ्यता और मानवता के लिए यह एक भयावह खतरा है। यह खतरा न सिर्फ राजनीतिक है बल्कि स्पष्टत: एक आर्थिक खतरा भी है। लेकिन सबसे बुनियादी मानवीय स्तर पर यह सभ्यताओं की निजता के लिए खतरा है–यानि हर जगह वही तकनीक, वही मनोरंजन, वही ाास्ट ूड। अपनी आर्थिक ताकत के बल पर अमरीका दुनिया के सभी हिस्सों में अपने को घुँसेड़ रहा है। उपभोक्तावाद और भौतिकतावाद की अपनी खुद की ताकत होती है और इसका सबसे बड़ा हमला शायद संस्कृति के ऊपर ही होता है, वह संस्कृति जो एक अर्थ में पूरे देश की जनता की सामूहिक कल्पनाशीलता, पीड़ा-व्यथा, कष्ट-क्लेश और इतिहास की नुमाइन्दगी करती है।

प्रश्न : लेकिन दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में विकास की वैकल्पिक रणनीतियाँ भी तो उभर रही हैं जो उस अमरीकी रणनीति को चुनौती दे सकती हैं जिसकी आड़ में अमरीका दुनिया पर अपना वर्चस्व कायम करना चाहता है?

उत्तर : मुझे वैश्वीकरण की प्रक्रिया के चलते पैदा हो रही समस्याओं के प्रति व्यापक जागरुकता दिखायी देती है। आशावादी होने के नाते हम देख सकते हैं कि वैश्वीकरण की गति मन्द पड़ी है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके असली मकसद के बारे में लोग जागरुक हो रहे हैं कि यह विभिन्न समाजों को कैसे नुकसान पहुँचा रहा है।

प्रश्न : अक्सर वैश्वीकरण को नवउपनिवेशवाद के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा जाता है। क्या आप इससे सहमत हैं?

उत्तर : वैश्वीकरण की इस नयी प्रक्रिया और पुराने साम्राज्यवाद के बीच के ार्क को भारत के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। भारत विदेशी गुलामी की बर्बरता का शिकार रहा और उसके चलते कंगाल हो गया। लेकिन वैश्वीकरण शुरू होने के पहले तक, उदाहरण के लिए अगर आप भारतीय िल्म उद्योग पर ही ध्यान दें तो इसका ालक भारतीय बना रहा। लेकिन आज जब वैश्वीकरण का जोर जीवन के सुदूर कोनों को भी अपनी चपेट में ले रहा है तब विदूषक द्धकॉमेडियनऋ और लतीफे और संगीत की लय तक बदलने लगी है।

यह वैश्वीकरण उपभोक्तावाद और भौतिकतावाद को सशस्त्र कब्जे से कहीं ज्यादा घातक बना देता है।

पुराने उपनिवेशवाद में आप कम से कम इस बात को जानते थे कि आपका दुश्मन कौन है? आप महसूस करते थे कि आपकी पीठ में छुरा भोंका जा रहा है। आप जानते थे कि एक बेहतर जिन्दगी के लिए आपको क्या करने की जरूरत है। नए उपभोक्तावाद में आप गुलाम तो हैं, लेकिन आपको इसका अहसास नहीं है। जब कैदी यह जानता ही न हो कि उसे किन जंजीरों में जकड़ा गया है तो वह भला क्या कर सकता है। यदि आप वैश्वीकरण पर गौर करें तो आप खुद को कपोल कल्पनाओं और इच्छाओं में जकड़ा हुआ पायेंगे। वैश्वीकरण का सबसे बड़ा खतरा यहीं पर है।

प्रश्न : हम अपने देश में अमरीका के साथ नाभिकीय समझौते को लेकर छिड़ी बहस के बारे में बात करते हैं। वामपन्थ की राय है कि नाभिकीय समझौते को दोनों देशों के बीच एक व्यापक रणनीतिक साझेदारी के अंश के रूप में देखने के बजाय इसे अलग-थलग घटना के रूप में देखना नादानी होगी। क्या आप इस पर कोई टिप्पणी करना चाहेंगे?

उत्तर : भारत के लोग कुशाग्र बु) हैं और वे जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। हालाँकि उनका मकसद अमरीकी मन्सूबे से बिलकुल अलग है लेकिन विभिन्न कारणों से वे एकमत हो सकते हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया निश्चय ही इसमें अपनी भूमिका निभा रही है। यदि आप परमाणु हथियार के मामले में अमरीका के मजबूत सहयोगी हैं तो आपको वैश्वीकरण और सांस्कृतिक स्काये के लिए भी पूरी तरह तैयार रहना होगा।

प्रश्न : यहाँ हम परमाणु हथियारों के समझौते की नहीं बल्कि पूर्णतः शान्तिपूर्ण नाभिकीय सहयोग समझौते की बात कर रहे हैं?

उत्तर : जिस चतुराई के साथ तकनीक चीजों को बदल डालती है, उसी चतुराई के साथ वह जनसंहारक हथियारों के विकास की क्षमता को भी बढ़ा सकती है और बढायेगी।

शान्ति के नाम पर किसी देश को नाभिकीय हथियार बनाने से रोकते हुए हम किसकी शान्ति की बात कर रहे होते हैं–उनकी द्धअधिक शक्तिशाली देशों की शान्तिऋ या विश्व शान्ति की? मैं यह कहना चाहता हूँ कि अगर परमाणु हथियार हैं और उसको चलाने की क्षमता केवल मेरे पास ही है तो हर जगह शान्ति भी मैं ही कायम रख सकता हूँ, कोई दूसरा नहीं। ''मैं तुम्हारा स्काया कर दूँगा, तुम मेरे साथ छेड़-छाड़ नहीं कर सकते'' यह एक ऐसा बचाव है जिसकी इजाजत किसी को नहीं दी जा सकती। अगर सभी लोग ऐसे बचाव पर अमल करने लगें तो यह मानवता के लिए भारी विनाश का कारण बनेगा।

प्रश्न : आप इराक पर अमरीकी हमले के खिलाफ बहुत से अभियानों से जुड़े रहे हैं। २००४ में ख्याति प्राप्त वकीलों के एक पैनल से भी जुड़े जिसने नवम्बर २००५ में स्वेच्छा से सद्दाम का मुकदमा लड़ा। क्या पिछले कुछ महीनों में इराक को लेकर अमरीका की अवस्थिति में कोई बदलाव आया है?

उत्तर : यदि अमरीका को इराक पर कब्जे के लिए यु) की कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ रही होती, इराक में प्रतिरोध इतना तीव्र नहीं होता, अमरीका के इतने आदमी नहीं मारे गये होते और दुनिया में उसके सम्मान और प्रतिष्ठा को इतना ज्यादा नुकसान न पहुँचा होता, तो शायद यह यु) वैश्विक शान्ति के लिए और ज्यादा विनाशकारी होता। अमरीका द्वारा छेड़ा गया यह यु) सबसे बड़ा अन्तरराष्ट्रीय अपराध है, मानवता के खिलाफ सबसे बड़ा अपराध। गौरतलब है कि हमले की धमकी देना कानून की नजर में हमले के बराबर ही होता है।

दूसरे देशों को भी अमरीका खुलेआम धमकी दे रहा है जो डराने के लिए काफी है। यदि आप इराक के लोगों की हालत पर गौर करें तो आपका दिल दहल जायेगा। वहाँ जीवन के हर क्षेत्र में तबाही दिखायी देती है जो बर्दाश्त के बहार है। मानवीय संकट अभूतपूर्व है। 25 लाख लोग देश के बाहर शरणार्थी के रूप में रह रहें हैं, 10 लाख से ज्यादा लोग मारे जा चुके हैं और तीन चौथाई आबादी के लिए न तो बिजली है, न पीने का पानी।

और उसके बाद दहशत का आलम। दुनिया में पहले कभी भी दहशत का ऐसा माहौल नहीं रहा–हर पल कत्ल कर दिये जाने की दहशत। यह एक ऐसी चीज है जिस पर दुनिया को ध्यान देना चाहिए और इसे रोकने के लिए एकजुट हो जाना चाहिए।

प्रश्न : क्या वे आतंकवादी जिनके खिलाफ अमरीका लड़ने का दावा करता है, खुद अमरीका द्वारा गढ़े गये भस्मासुर नहीं हैं?

उत्तर : आतंकवाद के खिलाफ यु) दरअसल इस्लाम के खिलाक यु) है। अधिकांश राजनीतिक इसे इस्लामिक आतंकवाद कहते हैं, लेकिन दरअसल उनका मतलब होता

है इस्लाम का खतरा। इसलिए इस्लाम के खिलाफ यु) का विचार एक ऐसा महाविनाशकारी विचार है जैसा इतिहास में पहले कभी नहीं देखा गया।

प्रश्न : इस्लाम से ऐसा भय क्यों? आलोचक कहते हैं कि अमरीकी सरकार विभ्रम की शिकार है। शीतयुद्ध के समय वे कम्युनिज्म का खतरा बताते थे और अब कहते हैं कि इस्लाम का खतरा है।

उत्तर : जहाँ तक इस्लाम की बात है, एक दौर में इस विश्वास ने लोगों की अच्छी सेवा की थी, जब लगता था कि कोई मूल्य, कोई उसूल नहीं और जब आर्थिक ताकत, लोभ–लालच और जोर–जबरदस्ती का बोलबाला था।

अमरीका में इसने अफ्रीकी–अमरीकी लोगों की जिन्दगी को छुआ है जिनको गली–कूचों में हिंसा झेलनी पड़ती है और जो अपने जीवन रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। अचानक उन्हें इस्लाम मिला, जिससे उन्हें शान्ति, गरिमा और एक आस्था मिली, जिस पर वे यकीन कर सकते हैं।

वास्तविक खतरा है, वैश्वीकरण की आधार शिला–भौतिकतावाद। मार्क ट्वेन के शब्दों में, आप गैर–जरूरी जरूरतों का प्रचार–प्रसार करके ज्यादा माल उत्पादन करना चाहते हैं, ज्यादा बेचना चाहते हैं ताकि और ज्यादा मुनाफा इकठा कर सकें। इसका सबसे घातक परिणाम है–हर देश में धनी का और धनी होते जाना गरीब को और गरीब बनाते जाना। वैश्विक स्तर पर गरीबों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है, धन का संकेन्द्रण भी पहले से ज्यादा बढ़ा है। स्थिति अब जीने लायक नहीं रह गयी है।

अमरीकी सरकार को एक दुश्मन की दरकार है। वास्तव में, नये शत्रुओं की तलाश करना देश को एकजुट करने का तरीका है। अपने असली मन्सूबों को छिपाना और देशभक्ति, जो नीच लोगों की अन्तिम शरण स्थली है उसका आह्वान करना। उनका असली मकसद देशभक्ति नहीं है। असली मकसद है वर्चस्व कायम करना और शोषण करना और इसमें आप तभी कामयाब हो सकते है जब आपके पास एकजुटता का कोई मंच हो। यही वह जगह है जहाँ सेना काम आती है। अमरीका हथियारों के ऊपर दुनिया के सभी देशों के कुल खर्च से भी ज्यादा खर्च करता है। यदि कोई देश परमाणु हथियार बनाने की कोशिश करता है तो वह उसका विनाश करने की धमकी देता है लेकिन वह खुद परमाणु हथियारों की एक उन्नत किस्म का विकास कर रहा है, खुद नये राकेट बना रहा है जो मिनटों में किसी भी ठिकाने पर मार कर सकते हैं।

प्रश्न : इसके बावजूद दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में ऐसे देश मौजूद हैं, जो विश्व प्रभुत्व के अमरीकी मन्सूबों के खिलाफ कतारबद्ध हो रहे हैं।

उत्तर : वर्चस्व कायम करना अपने आप में एक कठिन काम है। तुम शोषण करने के लिए वर्चस्व कायम करते हो। यही तरीका है जिसकी बदौलत तुम दौलत बटोरते हो। दूसरों को पछाड़ कर दबाते हो और अपनी दौलत बढ़ाते हो। लेकिन साथ ही तुम उन्हें गुमराह भी करते हो ताकि वे तुम्हारी कारगुजारियों को देख न सकें, बदलते हालात को समझ न पायें। यदि आप लातिन अमरीका में नयी आजादी पर ध्यान दें–यह आश्चर्यजनक है। आप पुरानी क्यूबाई क्रान्ति को देखिये–उसका टिके रहना एक चमत्कार ही है। इस देश में शिक्षा का स्तर पूरे गोलार्ध में सबसे ऊँचा है। व्याकरण और गणित के स्कूलों में सबसे ज्यादा नम्बर लाने वाले विद्यार्थी यहीं हैं जबकि दशकों से इस देश पर प्रभावी प्रतिबन्ध लगे हैं। वेनेजुएला, अर्जेण्टीना और ब्राजील को देखिये और चिली पर ध्यान दीजिये जहाँ एक ओर जिसे कभी पिनोचे ने कैद में डाल दिया था और जिसके पिता की उसने 1974 में हत्या कर दी थी, वही आज देश की राष्ट्रपति है। इन देशों ने अपनी गुलामी के बन्धन तोड़ डाले हैं और वे आगे आ रहे हैं।

मैं सोचता हूँ कि भारत ऐसे दुश्मन के रूबरू है जो हमेशा की तुलना में एकदम नया है। ऐसा ही चीन में भी हो रहा है। इस क्षेत्र में शक्ति है, इन दोनों देशों का आकार इतना बड़ा है कि अमरीका उन्हें बहुत आसानी से छल प्रपंच कर के नहीं चला सकता। इसलिए हमें बस यही करना है कि समस्या की एक सही समझ का व्यापक प्रचार–प्रसार करें। अगर हम दुनिया भर में सैनिक ताकत के असन्तुलन को नजरन्दाज करते हैं तो हमारे लिए इसका मतलब होगा कि हम एक भयानक खूनी दौर में प्रवेश कर रहे हैं।

लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि हमें उन मूल्यों की ओर लौटना होगा जो उपभोक्तावाद से बेहतर हों जिसका मतलब इस हवस से है कि ''मुझे चीजें चाहिए, और भी अच्छा खाना, और भी अच्छा घर, और भी बड़ी कार चाहिए'', कि ''मैं अपने बच्चे के लिए दुनिया का हर खिलौना खरीद लेना चाहता हूँ।''

इराक में हारता अमरीका

❑ ज्ञानेन्द्र

मदान्ध अमरीका इराक में बुरी तरह ¬ँस गया है। एक के बाद एक उसके सहयोगी देश उसका साथ छोड़कर भाग रहे हैं। आस्ट्रेलिया और पोलैण्ड ने हाल ही में घोषणा की है कि वे 2008 तक अपनी सेनाएँ वापस बुला लेंगे। अमरीकी अनुनय-विनय और आँखे तरेरने को नजरन्दाज करते हुए उसे मझधार में छोड़कर ब्रिटिश सेनाएँ भाग खड़ी हुईं। दोनों देशों के बीच हुए आरोप-प्रत्यारोप से एक बार ि‍फर इराक में अमरीकी गठबन्धन सेनाओं की दुर्गति की झलक दुनिया को मिली। ब्रिटेन के भूतपूर्व वरिष्ठ कूटनीतिज्ञ रोरी स्टीवार्ट ने जो 2003-04 के दौरान दक्षिण इराक में दो प्रान्तों के उपराज्यपाल रह चुके हैं, ब्रिटिश सेनाओं की ''रात के अन्धेरे में'' वापसी पर टिप्पणी करते हुए कहा ''पिछले अढ़ाई सालों से दक्षिण इराक पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं रह गया था।'' ब्रिटेन के वरिष्ठ सैनिक अधिकारियों ने विनाशकारी अमरीकी ''योजनाहीनता और बौ)िक दिवालियापन'' को दोषी ठहराया।

तथाकथित ''आजाद और लोकतान्त्रिक इराक'' के अमरीकी प्रचार की भी अब धज्जियाँ उड़ चुकी हैं। यूक्रेन, बेलारुस, कजाकिस्तान,तजाकिस्तान में अमरीका द्वारा करवायी गयी ''नकली क्रान्तियों'' की तरह ही इराक में अमरीका द्वारा लादे गये लोकतन्त्र का भी दुनिया में मजाक उड़ रहा है। इराक में अमरीकी हस्तक्षेप के इस मौजूदा दौर में बेगुनाह मरने वालों की संख्या सद्दाम के शिकार लोगों से ज्यादा हो चुकी है। देश के भीतर घर छोड़कर भागने वालों और विदेशों में शरणार्थियों की कुल संख्या 42 लाख से भी ज्यादा हो चुकी है। केवल बगदाद शहर से 1 लाख 70 हजार परिवार, यानि लगभग 10 लाख लोग सुरक्षित शरण-स्थल, रोजगार, बिजली-पानी और बच्चों के भविष्य 'की तलाश में घर छोड़कर जा चुके हैं। खासकर जून में अमरीकी ¬ौजों की संख्या बढ़ने के बाद विस्थापितों की संख्या और तेजी से बढ़ी। बहुत से परिवार तो 2-3 बार घर छोड़ने के लिए बाध्य हुए। ¬रवरी 2006 में एक शिया मस्जिद पर हमले के बाद साम्प्रदायिक हमले से बचने के लिए भी लोग उन इलाकों में पलायन करने लगे जहाँ उनके समुदाय के लोगों की संख्या अधिक है। सबसे बुरी स्थिति उन गरीब गाँववासियों की है जो अपना सब कुछ गँवाकर शरणार्थी शिविरों, झोपड़-पटि्यों और मलिन बस्तियों में रहने को मजबूर हैं। उनकी दुर्दशा का बयान करते हुए रेड क्रिसेण्ट समूह के डॉ. सईद हकीकी कहते हैं, ''मैंने कई बार मौत देखी है लेकिन मैं उससे कभी घबराया नहीं, डिगा नहीं। लेकिन इराक में हताहतों की संख्या ने मुझे झकझोर दिया है। एक इन्सान दूसरे इन्सान को इतने लम्बे समय तक इतना कष्ट कैसे दे सकता है।''

मार्च 2003 में मौजूदा हस्तक्षेप की शुरुआत से अभी तक इराक में अमरीका के 3764 सैनिक मारे जा चुके हैं और हजारों घायल हुए हैं। अमरीकी सैनिकों को सदमा और तनाव की बीमारी का सामना करना पड़ रहा है। इराक से लौटे हजारों अमरीकी सैनिक मस्तिष्क के क्षतिग्रस्त होने की एक अजीबोगरीब बीमारी से ग्रस्त हैं। ट्रामैटिक ब्रेन इन्जरी नाम की इस बीमारी के लक्षण किसी हादसे के बाद के तनाव के लक्षणों से मेल खाते हैं। यु) में सिर में आयी गम्भीर चोटों के इलाज के बावजूद उनकी मानसिक बीमारी बनी रहती है। उदाहरण के लिए, एक पुनर्वास कार्यक्रम में स्वास्थ्य लाभ करने वाले एक सैनिक ने अपनी याद्दाश्त में सुधार होने के तीन सप्ताह बाद आत्महत्या कर ली।

इराक भेजने के लिए अपने देश में सैनिकों और अधिकारियों की भर्ती करने में अमरीका को भारी परेशानी उठानी पड़ रही है। उन्हें विशेष भत्तों और सुविधाओं का लालच देने और तरह-तरह के हथकण्डे अपनाने के बावजूद अमरीकी प्रशासन भर्ती के अपने लक्ष्य पूरे नहीं कर पा रहा है। राष्ट्रीय गार्ड के सैनिकों को लालच दिया गया है कि सक्रिय सेना में सिपाही भर्ती करवाने पर उन्हें प्रति सिपाही 200 डॉलर का बोनस दिया जाएगा। दूतावास और प्रशासनिक सेवाओं में स्वेच्छा से आवेदन नहीं आने के बाद विदेश सेवा अधिकारियों के लिए इराक में 1 साल की नियुक्ति अनिवार्य की जा रही है। द्धअमरीका के इतिहास में ऐसा बहुत कम बार हुआ है। सबसे पहले 1969 में वियतनाम यु) के समय अमरीका ने सभी राजदूतों की वियतनाम में नियुक्ति को अनिवार्य किया था।ऋ इराक जाने से मना करने पर उनके

खिलाफ अनुशासन हीनता की कार्रवाई की जायेगी और उन्हें नौकरी से बर्खास्त भी किया जा सकता है। केवल बीमारी की हालत में ही वे इराक जाने से मना कर सकते हैं। विदेश सेवा एशोसिएशन ने इस फैसले के खिलाफ विरोध जताया है और इराक में नियुक्ति को स्वैच्छिक बनाने की माँग की है, लेकिन अमरीकी प्रशासन इसके लिए तैयार नहीं है। अमरीकी दूतावास में कर्मचारियों की संख्या 6000 तक पहुँच चुकी है और इसके लिए स्थानीय लोगों की नियुक्ति सम्भव नहीं रह गयी है। जिन इराकियों ने अमरीका की मदद की या उसके लिए काम कर रहे हैं, उनकी जान खतरे में है। अमरीका की ताकत पर उनका भरोसा टूट चुका है और वे किसी तरह इराक से निकल भागना चाहते हैं। अपनी गिरती हुई साख को बनाए रखने के लिए अमरीका ने उनके लिए एक पुनर्वास पैकेज की फरवरी में घोषण की। जो कर्मचारी वहाँ से भागकर जॉर्डन या सीरिया जैसे देशों में शरण लिए हैं, वे अमरीका में बसने के लिए आवेदन कर सकेंगे। लेकिन इराक के लोगों में इससे कोई आशा नहीं जगी, क्योंकि एक तो पहले से ही इन देशों में भारी संख्या में इराकी शरणार्थी पहुँचे हुए हैं जिसके कारण वे और लोगों को आने नहीं देना चाहते। दूसरे, अगर कोई इराकी कर्मचारी किसी तरह वहाँ पहुँच भी जाता है तो संयुक्त राष्ट्र की शरणार्थी पुनर्वास की लम्बी प्रक्रिया से गुजरकर ही वह किसी देश में जाकर बस सकता है। अमरीका ने अपने दूतावास के कर्मचारियों को इस प्रक्रिया में छूट देने की घोषणा की है, लेकिन उनकी संख्या इराक में अमरीकी सेवा में कार्यरत कुल 69,000 इराकी कर्मचारियों की तुलना में बहुत ही कम है।

जुलाई में अमरीकी वीजा का इन्तजार कर रहे एक इराकी दम्पत्ति को अमरीकी दूतावास के लिए काम करने के कारण जान से हाथ धोना पड़ा। काफी सावधानी बरतने के बावजूद वे पहचान लिए गये। वे अमरीकी दूतावास तक कभी सीधे नहीं जाते थे। आधे रास्ते में ही कार छोड़ देते थे। पार्किंग के बाद हमेशा अलग-अलग रास्तों से निकलते थे, बेरोजगार और साधारण आदमी की तरह दिखने के लिए अपने सबसे खराब कपड़े पहनते थे, लेकिन फिर भी वे पहचान लिये गये।

स्थिति इतनी भयावह है कि कोई बीमा कम्पनी इराक मे काम कर रहे राजदूतों और दूतावास कर्मचारियों का बीमा तक करने को तैयार नहीं है। अरब लीग की ओर से एक साल इराक में राजदूत रहे मुख्तार लमानी के मुताबिक अमरीका और यूरोप की कोई बीमा कम्पनी उनके इराक प्रवास के दौरान उनका बीमा करने को तैयार नहीं हुई। बहुत मुश्किल से ब्रिटेन की एक बीमा कम्पनी बीमा करने के लिए तो तैयार हो गयी, लेकिन उसकी शर्त यह थी कि अपहरण और अकाल मृत्यु की स्थिति में वह मुआवजा नहीं देगी।

इराक में अमरीकी सेना के सर्वोच्च कमाण्डर रह चुके ले"टीनेण्ट जनरल रिकार्डो सांचेज के शब्दों में ''निस्सन्देह अमरीका इराक में एक दु:स्वप्न का शिकार है जिसका कोई अन्त दिखायी नहीं देता। रणनीति में लगातार जारी जोड़-तोड़ और समायोजन से हमें विजय नहीं मिल सकती। ज्यादा से ज्यादा हम पराजय को टाल सकते हैं।''

इराक अमरीका के गले की हड्डी बन चुका है। अपने सैनिकों को वहाँ से बाहर निकाल पाने के लिए अमरीका द्वारा अभी तक आजमायी गयी कोई भी रणनीति कारगर होती नहीं दिखायी दे रही है। लाख प्रयास के बावजूद अभी तक वह कोई स्थानीय व्यवस्था नहीं खड़ी कर पा रहा है जिसके भरोसे वह इराक से बाहर निकल सके।

अमरीका की छत्रछाया में चुनी गयी प्रधानमन्त्री नूरी अल-मलीकी की सरकार पर भी अब अमरीकी अधिकारियों का भरोसा नहीं रह गया है क्योंकि सत्ता में बने रहने के लिए ही सही, उसे कुछ अमरीकी कुकृत्यों की निन्दा करनी पड़ रही है। खास तौर से अमरीकी प्रशासन तब आपे से बाहर हो गया जब अमरीका की इच्छा के विरु) मलीकी ने सीरिया की यात्रा की। अमरीकी सैनिक सेवाओं की संसदीय समिति के प्रमुख कार्ल लेविन ने तो ''मलीकी को सत्ता से हटाने'' तक का आह्वान कर डाला। अमरीकी राजदूत ने इराक में यु)रत गुटों के बीच समझौता नहीं हो पाने का दोष इराक की सरकार पर मढ़ते हुए प्रगति को निराशाजनक बताया। खुद बुश ने भी नेतृत्व को 'हताशा' का शिकार कहा। इराकी प्रधानमन्त्री मलीकी ने इन वक्तव्यों को ''गैरजिम्मेदाराना'' बताते हुए अमरीकी नेताओं को चेतावनी दी कि ''वे इराक को अपना गाँव न समझें'' और ''होश में आ जाएँ''। उसने स्पष्ट किया कि ''किसी को यह अधिकार नहीं है कि हमारे ऊपर अपना कार्यक्रम थोपे।'' ''हमें दुनिया में बहुत से देश मिल जाएँगे जो हमारी मदद करेंगे।'' मलीकी का यह बयान इराक में अमरीका की कमजोर स्थिति का आइना है, जो अब किसी से छिपी नहीं है।

इराक की चुनी हुई सरकार बेहद कमजोर हो चुकी है। वह बगादाद शहर में भी बुनियादी सुविधाएँ नहीं मुहैया

करवा पा रही है। हताश होकर अमरीका ने इराक के घोर प्रतिक्रियावादी तत्त्वों–सामन्ती, कबीलाई और धार्मिक गुटों को अपने पाले में करने के लिए एक नयी रणनीति पर अमल शुरू कर दिया है। कबीलाई नेताओं को पैसा देकर अपने पक्ष में करने की कोशिश की जा रही हैं। एक अमरीकी अधिकारी के मुताबिक यह रणनीति ''बन्दूक और व्हिस्की'' के जरिये कबीलाई नेताओं को पटाने की है। उदाहरण के लिए तिकरित के सलाद अलदीन प्रान्त में सेना ने 26 कबीलाई नेताओं को अपने पाले में करने के लिए 50 लाख डॉलर से भी अधिक खर्च किए हैं। अनवार प्रान्त के ाालुजा और रामादी जैसे सुन्नी बहुल बागी इलाकों में यह रणनीति स़फल हुई, जिससे अमरीकी प्रशासन खास तौर पर उत्साहित था। यहाँ सुन्नी कबीलाई नेता शेख अब्दुल सत्तार बुझेल अल रिशावी ने 42 कबीलों के सरदारों के एक समूह का अमरीका से गठबन्धन करवाया था। इसके चलते अमरीका को इस इलाके में हिंसा कम करने में कुछ स़फलता मिली थी। लेकिन अमरीकी प्रयासों को उस समय गहरा धक्का लगा जब प्रतिरोध यो)ाओं ने इस ''बड़े अमरीकी सुअरों में से एक'' अब्दुल सत्तार की हत्या कर दी। लेकिन अभी भी अमरीका ने उम्मीद पूरी तरह नहीं छोड़ी है।

इस अमरीकी रणनीति के दूरगामी परिणाम और भी भयावह होंगे। इन कबीलाई सरदारों की ताकत बढ़ती जा रही है। उदाहरण के लिए बगदाद से 85 किमी दक्षिण स्थिति शिया बहुल शहर हिल्ला के पुलिस प्रमुख जनरल कैस हमजा एबोद ने अमरीकी धन और हथियारों के बल पर 800 सैनिकों की एक बटालियन खड़ी कर ली है जो स्कार्पियन बटालियन के नाम से जानी जाती है। इसके दम पर एबोद स्थानीय इराकी सैन्य कमाण्डरों या सरकार से भी ज्यादा शक्तिशाली बन चुका है। इसी तरह ब्रिटिश सेना के पलायन के बाद कई कबीलाई नेताओं के बीच बसरा पर प्रभुत्व स्थापित करने की होड़ चल रही है। अभी शहर के अहम तेल संसाधनों पर इस्लामी ाजिला पार्टी से जुड़े प्रान्तीय गर्वनर मोहम्मद अल बायली के लोगों का कब्जा है। इसकी सबसे बड़ी प्रतिद्वन्द्वी महदी आर्मी है जिसमें 17 हजार लोग हैं। इन कबीलाई सरदारों के बीच की होड़ भविष्य में शान्ति कायम करने की बची-खुची सम्भावनाओं का भी अन्त कर सकती है। इन स्वेच्छाचारी और निरंकुश कबीलाई सरदारों के अधीन इराक में एक ऐसे राज्य की नींव पड़ने जा रही है जहाँ व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं होगी।

इराक से अपने सैनिकों को निकालने के लिए अमरीका ने एक और भी जघन्य रणनीति अपनायी है–निजी सुरक्षा एजेंसियाँ। अमरीका के 1 लाख 62 हजार सैनिक इराकी विद्रोहियों के साथ यु) में इस कदर उलझे हुए हैं कि सरकारी विभागों और अमरीकी प्रशासनिक अधिकारियों को तथाकथित ''प्रशासन और पुनर्निर्माण'' के दैनन्दिन कामों के दौरान अपनी सुरक्षा के लिए पर्याप्त सैनिक नहीं मिल पा रहे हैं। इन कामों के लिए इराकी और विदेशी प्राइवेट कम्पनियों को ठेके दिये जाते हैं। इन कम्पनियों के मार्फत इस समय लगभग 69 हजार इराकी अमरीकी रक्षा विभाग के लिए काम कर रहे हैं जिनमें सुरक्षा गार्डों से लेकर हर तरह के मजदूर भी शामिल हैं।

इन कम्पनियों को ठेका देने के पीछे अमरीकी साम्राज्यवाद का एक बहुत ही घृणित मन्सूबा काम कर रहा है–मरने वाले अमरीकियों की संख्या कम कम करना। अमरीकी प्रशासन की ''लाशों का रंग बदल दो'' की इस रणनीति के तहत इराक में बड़ी संख्या में ऐसी कम्पनियाँ कार्यरत हैं जिनमें से अधिकतर कम्पनियाँ तो पंजीकृत भी नहीं हैं। अभी हाल तक इन कम्पनियों पर न तो अमरीकी कानून लागू थे और न ही इराक का संविधान। अमरीकी प्रशासन की ओर से मिली छूट के चलते ये कम्पनियाँ बर्बरता का पर्याय बन चुकी हैं। 18 सितम्बर को ऐसी ही एक अमरीकी कम्पनी ब्लैक वाटर के सुरक्षा गार्डों ने, जो अमरीकी अधिकारियों के एक कॉनवाय की ह्रिाजत कर रहे थे, बगदाद के एक भीड़ भरे चौराहे पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलाकर कम से कम 17 बेगुनाह लोगों को भून डाला और दर्जनों लोगों को घायल कर दिया। इसके तीन ह"ते बाद एक और अमरीकी कम्पनी के सुरक्षा गार्डों ने गलती से कॉनवाय के नजदीक आ गयी एक टेक्सी की महिला चालक और उस टेक्सी में बैठी दूसरी महिला के ऊपर 40 चक्र गोलियाँ चलाकर उन्हें भून डाला। इन बर्बर हादसों के बाद दोनों कम्पनियों की ओर से जारी बयानों में इन हत्याओं के प्रति कोई खेद तक व्यक्त नहीं किया गया, बल्कि ब्लैक वाटर ने तो उसे ''समुचित प्रतिक्रिया'' कहकर जायज ठहराया।

इन घटनाओं ने साबित कर दिया है कि ये कम्पनियाँ किसी कानून को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। ये ठेकेदार बन्दूक की नोक पर आतंक का राज्य चला रहे हैं और उन्हें अमरीका की पूरी शह है। इराकी सरकार के कानून इन पर लागू नहीं होते। लेकिन जनता के जबरदस्त आक्रोश को देखते हुए इराकी सरकार ने इनकी स्थिति की समीक्षा करने की घोषणा की है। उसने ब्लैक वाटर से पीड़ित परिवारों

के लिए हर्जाने के बतौर 13.6 करोड़ डॉलर की माँग की है और अमरीकी सरकार से कहा है कि वह 6 महीने के भीतर कम्पनी से अपने रिश्ते खत्म कर दे।

लेकिन अमरीकी साम्राज्यवाद के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं है। ये कम्पनियाँ इराक में अमरीका की मौजूदगी का सबसे घृणित और सबसे बदनुमा चेहरा हैं। इराक में मौजूदा हस्तक्षेप के बाद ब्लैक वाटर ने अन्धाधुन्ध कमाई की है। 2001 में सरकार उसे 10 लाख डॉलर का भुगतान कर रही थी जो अब बढ़कर 1 अरब डॉलर तक जा पहुँचा है। कम्पनी के आला अफसर रिपब्लिकन पार्टी के साथ घनिष्ठ रिश्ते के लिए जाने जाते हैं और इसके कर्मचारियों में से बहुतेरे बुश प्रशासन में काम कर चुके हैं। इराक की दिनोदिन बढ़ती तबाही और बर्बादी की कीमत पर ब्लैक वाटर और हैलीबर्टन की समृ) अविश्वसनीय गति से बढ़ रही है। इन कम्पनियों पर अमरीकी सरकार का किस कदर वरदहस्त है इसे समझने के लिए एक ही उदाहरण काफी है। सरकारी सुधार और पर्यवेक्षण की संसदीय समिति के प्रमुख हेनरी वेक्समैन ने कोण्डालीजा राइस को इसकी शिकायत भेजी है कि ब्लैक वाटर की उनके द्वारा की जा रही जाँच में अमरीकी गृह मन्त्रालय बाधा पहुँचा रहा है।

इस तरह इराक में अपनी सैनिक उपस्थिति घटाने की अमरीका की कोई भी रणनीति कारगर नहीं हो पा रही है। हाल में सामने आयी ब्रिटिश सेना की एक रिपोर्ट के मुताबिक अमरीका बस बगदाद पर ध्यान दे रहा है। खुद राष्ट्रपति बुश ने इराक में ''विजय'' के दावे करना बन्द कर इसके स्थान पर ''सफलता'' शब्द का प्रयोग शुरू कर दिया है। यह इराक में अमरीका की स्थिति की वास्तविकता को बताता है। अमरीका के अधिकांश लोगों को इराक ''विजय'' में विश्वास नहीं रह गया है। दर्जनों जनमत सग्रहों के नतीजे बताते हैं कि 40 फीसदी से ज्यादा लोग नहीं मानते कि इराक में यु) जीता जा सकता है। इस यु) का संचालन कर रहे अमरीकी जनरल डेविड एच. पेत्रास और वहाँ के अमरीकी राजदूत रेयान सी. क्राकर ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि इराक में उनका फौरी मकसद ''विजय'' नहीं है। पहले अमरीका इराक में पश्चिमी ढंग की संसद कायम करने का इरादा रखता था, लेकिन अब उसने तय कर लिया कि वह सिर्फ विरोधी गुटों के बीच हिंसा को कम करने, गृहयु) भड़कने से रोकने और कबीलाई सरदारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ स्थानीय स्वशासन को बढ़ावा देने तक ही खुद को सीमित रखेगा। क्राकर ने अमरीकी काँग्रेस को बताया कि ''मैं इराक में सफलता की गारण्टी नहीं कर सकता। वहाँ चुनौतियाँ...बहुत ज्यादा हैं।'' एक सांसद ने सवाल किया कि क्या इराक में सफलता की कोई वास्तविक सम्भावना है? इसके जवाब में जनरल पेत्रास ने सफलता शब्द के इस्तेमाल से परहेज करते हुए कहा कि ''हमारे उद्देश्यों को हासिल करने की वास्तविक सम्भावना मौजूद है।'' लेकिन शेख सत्तार की हत्या के कुछ ही दिनों बाद खुद बुश ने स्वीकार किया कि इराक में उसके मन्सूबे को अमली जामा पहनाना मुश्किल होगा।

हताश-निराश बुश और अमरीकी प्रशासन अमरीकी जनता को गुमराह करने के लिए अब ईरान का इस्तेमाल कर रहा है। हाल ही में सामने आये पूर्व रक्षा मन्त्री रम्सफील्ड के प्रशासनिक निर्देशों की भाषा में कहें तो अमरीका की नीति है–''इराक को ईरान से जोड़ो,'' ''सोमालिया, फिलीपिंस इत्यादि के बारे में बातें करो और अमरीकी जनता को अहसास करवाओ कि वे दुनिया में बहुत से आतंकवादियों से घिरे हैं।'' तभी वे ''बलिदान'' के लिए ''आगे आयेँगे।'' लोगों को जानना चाहिए कि आतंकवाद के खिलाफ यु) का ''कोई अन्त नहीं'' और ''यह लम्बा चलेगा।'' ''इराक तो इस यु) का केवल एक मोर्चा है।'' ''यदि हम इराक में हार गये तो ईरान इसका फायदा उठाएगा,'' इत्यादि, इत्यादि।

लेकिन काठ की हाँडी बार-बार नहीं चढ़ती। इराक में जनसंहारक हथियारों की मौजूदगी के झूठ का सहारा लेकर हमला करने वाले अमरीका द्वारा गढ़े गये झूठों का एक-एक कर पर्दाफाश होने से दुनिया की नजरों में अमरीकी साम्राज्यवाद नंगा हो चुका है। इराक की जनता के बहादुराना प्रतिरोध संघर्ष का मुकाबला करने की तमाम अमरीकी कोशिशें बुरी तरह असफल हो रही हैं। इराक अमरीका के गले में हड्डी की तरह फँस गया है, उसे न उगलते बन रहा है, न निगलते। हो सकता है कि हताशा में वह मिसाइलों, बमवर्षकों और छोटे नाभिकीय हथियारों से हमला करके अपनी श्रेष्ठता साबित करने की कोशिश करे और परिणामस्वरूप हजारों बेगुनाह नागरिक मार डाले जायें। लेकिन उसका यह कुकृत्य उसके विनाश की घड़ी को और भी नजदीक ले आने वाला साबित होगा। झूठ के दम पर वह बहुत दिनों तक अपनी हार को नहीं छिपा सकता। अमरीका के साम्राज्यवादी मन्सूबों का कर्बला के रेगिस्तान में दफन होना तय है।

नरसंहारों के लिए नोबेल शान्ति पुरस्कार

❑ रेयाज-उल-हक

पर्यावरण के लिए आन्दोलन और नरसंहार में भला क्या मेल हो सकता है? यु) और शान्ति में भला क्या समानता हो सकती है? मार्टिन लूथर किंग और अल गोर के बीच क्या कोई तुलना है? दरअसल हम अक्ल को चकराने और समझ को धुन्धला कर देने वाले एक भ्रामक समय में जी रहे हैं जहाँ शब्दों के अर्थ बदल दिये गये हैं। जानी-पहचानी परिभाषाएँ उलट दी गयी हैं और विपरीतार्थक शब्दों को आपस में गड्ड-मड्डकर दिया गया है। यही वजह है कि जब शान्ति के लिए सबसे सुन्दर और आडम्बर भरे शब्दों का उपयोग हो रहा होता है, सुदूर तीसरी दुनिया के किसी देश पर रेडियोधर्मी बम गिराये जा रहे होते हैं। समृ) के चकाचौंध भरे आँकड़ों के पीछे बेरोजगारों-उजड़ते किसानों की आत्महत्याओं का अन्तहीन सिलसिला होता है। आजादी और लोकतन्त्र के नाम पर कठपुतली सरकारें और तानाशाह बिठाये जाते हैं और परस्पर दोस्ती सुदृढ़ किये जाते वक्त चापलूस सरकारें चित्रिृत की जाती हैं।

यह नवउदारवाद का महान भाषा विज्ञान है। हम असल में 21वीं सदी के नागरिक हैं।

और ऐसे में नोबेल शान्ति पुरस्कार का क्या मतलब है, जब वह जलवायु परिवर्तन के क्षेत्र में किये गये 'उल्लेखनीय कार्य' के लिए दिया जाये? शायद बच्चों का सामूहिक नरसंहार? या शायद कैन्सर पैदा करने वाले रसायनों का आबादियों के ऊपर हवाई छिड़काव?

नोबल पुरस्कार समिति का कहना है कि अल-गोर को यह सम्मान उनकी जलवायु परिवर्तन के विरु) संघर्ष को लेकर दृढ़ प्रतिब)ता के लिए दिया गया है।

मगर क्या आप उत्तर पूर्वी कोलम्बिया के ऊष्ण कटिबन्धीय जंगलों के मूल निवासियों से अल गोर की इस प्रतिब)ता का मतलब नहीं जानना चाहेंगे?

यह सही है कि माइकल जैक्सन और शकीरा की आवाजें ज्यादा सुरीली हैं और हालीवुड की फिल्में साप्ताहान्त के मनोरंजन के लिए अधिक पसन्द की जाती है, मगर इन बेहद गर्म जंगलों में बसने वाले मूल निवासियों से मिलने के लिये थोड़ी फुर्सत निकालने में कोई हर्ज नहीं।

असल में अल गोर अपने पुराने 'प्रतिद्वन्द्वी' जार्ज बुश की तरह ही एक काबिल बाप के काबिल बेटे हैं। अल गोर के पिता अलबर्ट-गोर द्धसीनियरऋ एक तेल कम्पनी के निदेशक मण्डल में रहे। ऑक्सीडेन्टल पेट्रोलियम द्धसन्क्षेप में ऑक्सीऋ नाम की इस कम्पनी के संस्थापक अर्माण्ड हैमर के वे करीबी मित्र थे। हैमर ने उन्हें यह ओहदा अमरीकी सीनेट से उनके रिटायरमेन्ट के बाद दिया। अलबर्ट गोर की कुल जायदाद ऑक्सी के शेयरों सहित करोड़ों डॉलर की थी और उनके बेटे अल गोर भी कम्पनी से भारी आर्थिक मदद पाते रहे हैं।

मगर इस तरह की कोई भी मदद कारपोरेट जगत तभी देता है जब उसे किसी तरह के लाभ की उम्मीद हो। अल गोर ने बदले में कम्पनी की भरपूर मदद की। जब वे अमरीका के उप राष्ट्रपति थे, उन्होंने कोलम्बिया योजना को लागू करवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कुख्यात कोलम्बिया योजना के बारे में वैसे तो बताया गया कि वह मादक द्रव्य के व्यापार के खिलाफ एक सैन्य अभियान थी, मगर असल में उसका उद्देश्य कोलम्बिया पर अमरीकी नियन्त्रण के विस्तार के लिए स्थानीय लोगों के प्रतिरोध को कुचलना था। अमरीकी की 'नशीली दवाओं के विरू) यु)' और कोलम्बिया योजना के तार आपस मे जुड़े हुए थे और अमरीका ने यह पूरा अभियान ही लैटिन अमरीका में अपने प्रभुत्व के विस्तार के लिए छेड़ा था। अब यह कोई ढँकी-छुपी बात नहीं है। नोम चोम्स्की समेत अनेक टिप्पणीकार इस पर विस्तार से लिख चुके हैं।

तेल कम्पनी ऑक्सी इस कोलम्बिया योजना के उत्साही प्रस्तावकों में से थी, जो अमरीकी सैन्य अभियानों का अब भी ायदा उठा रही है। इसके बाद अमरीकी सेना के ठेकेदारों ने पाइप-लाइन की सुरक्षा के लिए आसपास की आबादी को उनकी जमीन से खदेड़ दिया और कोका उन्मूलन के नाम पर वहाँ अत्यधिक मात्रा में कैन्सरकारी कर्सीनोजेनिक रसायनों का हवाई छिड़काव किया। 1990 के दशक में 5000 स्थानीय लोगों ने ऑक्सी को तेल निकालने के लिए जमीन की खुदाई करने से रोकने की कोशिश की थी।

ऑक्सी अकेली कम्पनी नहीं है जो इस इलाके के प्राकृतिक संसाधनों के निर्बाध दोहन का अधिकार चाहती रही है। वह सिर्फ उनमें से एक है। एक्सन और बीपी समेत अनेक कम्पनियों ने कोलम्बिया के मूल निवासियों को उनकी जमीन

पर से उजाड़ने के लिए अर्धासैन्य बलों का सहारा लिया। इन मूल निवासियों को उनकी जमीन से उजाड़कर उनसे कहा गया कि वे अमेजन में जाकर 'फिर से' बस जायें।

अमेजन में बसने का मतलब जानने के लिए आपको रॉकेट विज्ञानी होने की जरूरत नहीं है। वहाँ बसने का मतलब है–बीमारियाँ, भुखमरी और त्रासद मृत्यु।

...और इस तरह शान्ति के लिए प्रतिब) अल गोर ने मूल कोलम्बियनों को अमेजन में फिर से बसाने की योजनाओं पर काम किया और अपने पेट्रोकेमिकल मालिकों के लिए कोलम्बिया की तेल से समृ) जमीन को खाली करवाया।

आप अगर अल गोर को मिले नोबेल शान्ति पुरस्कार में शान्ति शब्द का मतलब जानना चाहते हैं तो कृपया इराक की एक सैर कीजिये।और वहाँ कब्रिस्तानों को देखना मत भूलिये। अल गोर उन 10 डेमोक्रेट सीनेटरों में से एक थे, जिन्होंने 1990 मे इराक के खिलाफ यु) के समर्थन में मत दिया था। वे उस प्रशासन के सेकण्ड इन कमाण्ड थे, जिसमें अमरीकी सेना को सोमालिया, हैती और बोस्निया भेजा, कोलम्बिया में हत्यारे गिरोहों द्धडेथ स्क्वाडऋ को धन दिया, इराक, अगानिस्तान और सूडान पर बमबारी की। उनके प्रशासन द्वारा इराक पर लगाये गये प्रतिबन्धों की वजह से पाँच लाख इराकी बच्चों की मौत हुई और सर्बिया के खिलाफ विध्वन्शक हवाई यु) छेड़ दिया गया।

1992 में आयी अपनी किताब 'बैलेन्स इन द अर्थ' में वे पृथ्वी का विध्वन्श करने वाली ताकतों के रूप में वायु एवं जल प्रदूषण, मृदा क्षय, जंगलों का घटना, बढ़ती आबादी, ओजोन परत मे छेद और ग्लोबल वार्मिंग को गिनाते हैं। गोर ने इस किताब में इस पर जोर दिया है कि आन्तरिक दहन वाले इंजनों को प्रचलन से बाहर किया जाये। मगर जब वे उपराष्ट्रपति बने तो उन्होंने इस दिशा में कोई काम नहीं किया। इसके उलट जब वे इस पद पर आये तो उन्होंने पर्यावरण आन्दोलन को ना"टा जैसी मजदूर विरोधी, पर्यावरण विरोधी पूँजीपतियों की संस्था के हाथ में सौंप दिया। उन्होंने 1995 में स्पेंडिंग बिल का समर्थन किया, जिससे लाखों एकड़ वन काट डाले गये और इस कार्रवाई को दो सालों के लिए पर्यावरण और न्यायिक कानूनों द्वारा समीक्षा से छूट मिल गयी। उन्होंने क्लिंटन के साथ मिल कर दक्षिण "लोरिडा में चीनी मिल मालिकों को हजारों एकड़ जमीन के विनाश की अनुमति दी। उन्हें खाद्य पदार्थों को कैन्सरकारी तत्वों से बचाने वाले कानून में भी ढील दी।

1977 से 1985 तक हाउस में, 1985 से 1993 तक सीनेट में और फिर इसके बाद उप राष्ट्रपति के रूप में अल गोर पेण्टागन और रक्षा सामग्री के ठेकेदारों के हितों के लिए काम करते रहे। उन्होंने रक्षा खर्चों मे कटौती का विरोध किया और ग्रेनेडा पर हमले तथा केन्द्रीय अमरीका में लड़ाइयों के समय रीगन प्रशासन का समर्थन किया। वे उस क्लिंटन प्रशासन में उप राष्ट्रपति थे, जिसने 1990 के दशक में युगोस्लाविया पर नाटो के जरिये हमला किया और जिसका विस्तार मध्य और पूर्वी यूरोप तक इसके बाजार, संसाधनों और सस्ते श्रम के लिए किया गया। कोसोवो मे उन्होंने सर्बिया के खिलाफ कोसोवो लिबरेशन आर्मी नामक एक अर्धसैन्य गिरोह के साथ सहयोग किया और उसके अनेक संगठित अपराधों को नजरअन्दाज किया। इसके अलावा उन्होंने सद्दाम हुसैन का तख्ता पलटे जाने का समर्थन किया।

कारपोरेट मीडिया के इस दौर में इन तथ्यों से इसका कोई लेना–देना नहीं है कि न्यू जर्सी मे सात प्रतिज्ञाएँ लेने वाले पर्यावरण के इस नये मसीहा द्वारा जलवायु परिवर्तन के नाम पर कितनी जबानी जमाखर्च की जाती है।

जब नोबेल कमेटी यह कहती है कि अल गोर सम्भवत: अकेले आदमी हैं, जिन्होंने दुनिया में द्धपर्यावरण संरक्षण सम्बन्धीऋ कदमों को अपनाये जाने को लेकर महत्त्वपूर्ण विश्वव्यापी समझ बनाने का काम किया है, तो उसे बताये जाने की जरूरत है कि अल गोर खुद इसको लेकर कितने गम्भीर हैं। अल गोर और उनकी पत्नी ऐसे दो बड़े घरों में रहते हैं जहाँ बिजली की अत्यधिक खपत होती है। उनका एक घर नेशविले में 10000 वर्ग फुट का है, दूसरा आर्लिंगटन में 4000 वर्ग फुट का। इन दोनों जगहों पर कम्पनियों ने पवन चालित ऊर्जा विकल्प प्रस्तुत किये हैं और अल गोर उन्हें आसानी से वहन भी कर सकते हैं, मगर इस सन्दर्भ में उन्होंने कोई रूचि नहीं दिखायी है।

तो क्या यह समझा जाये कि नोबेल समिति इन तथ्यों से अनजान थी और उसने गलती से पर्यावरण विरोधी गतिविधियों में लिप्त एक यु) अपराधी को पर्यावरण सम्बन्धी उसकी चिन्ताओं के लिए शान्ति पुरस्कार दिया है? कोई राय कायम करने से पहले कुछ और तथ्य जानने जरूरी हैं।

यह पहली बार नहीं है कि किसी यु) अपराधी को शान्ति का नोबेल सम्मान दिया गया है। इसके पहले वुड्रो विल्सन, जिमी कार्टर, हेनरी किसिंजर और थियोडोर रूजवेल्ट जैसे यु)ों, नरसंहारों और तानाशाहों का समर्थन करने वाले कुख्यात अमरीकी राष्ट्रपतियों को यह सम्मान दिया जा चुका है। इसके साथ ही इजरायल के तीन पूर्व प्रधानमन्त्रियों–शिमोर पेरेश, यित्जाक राबिन और मेनाकेम बेजिम को भी यह सम्मान हासिल हो चुका है। कोफी अन्नान को यह सम्मान उस दौर में मिला,

जब उनके संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव रहते अफगानिस्तान और इराक पर नृशंस यु) थोप दिये गये।

हेनरी किसिंजर को 1973 में नोबल सम्मान मिला। वियतनाम यु) के दौरान हेनरी किसिंजर अमरीका के राष्ट्रपति थे। इस यु) में 40 लाख दक्षिण एशियाइयों की हत्या हुई। चिली की लोकतान्त्रिक सरकार के तख्ता पलट में किसिंजर की सक्रिय भूमिका रही। उन्होंने लैटिन अमरीकी तानाशाहों का भी समर्थन किया। किसिंजर ने सुहार्तो द्वारा पश्चिमी पापुआ को हथियाने और पूर्व तिमोर में लाखों लोगों की हत्याओं मे उसकी सहायता की। उसने खमेर रूज का समर्थन किया। किसिंजर ने बांग्लादेश की चुनी हुई सरकार का तख्ता पलट करवाने मे सहयोग किया, जिसके कारण लगभग पाँच लाख मौतें हुईं।

कोफी अन्नान को यह सम्मान 2001 मे एक 'बेहतर' संगठित और शान्तिपूर्ण विश्व' के लिए उनके योगदान के लिए दिया गया। मगर अन्नान का इतिहास जानना दिलचस्प है। वे एक समय न्यू यार्क में सचिवालय सेवा विभाग में कार्यरत थे। उस समय उन्हें 'विशेष राजनीतिक मामलों' के विभाग ने मध्यपूर्व और अफीका में अतिरिक्त प्रभार दिया था। उन्होंने अमरीका द्वारा 1990 के शुरू में सोमालिया में सेना भेजे जाने की माँग का समर्थन किया। इसके बाद वे 1993 तक शान्तिरक्षक अभियानों के प्रभारी रहे। इसे दौरान रवाण्डा में कत्लेआम की आशांका पैदा हुई। उन्होंने अपनी जिम्मेवारी के तहत इसको रोकने की कोई कोशिश तो नहीं ही की, इसकी रोकथाम के लिए कोई कदम उठाये जाने से दूसरों को जहाँ तक हो सका रोका। इसके ;लस्वरूप वहाँ लगभग आठ लाख हत्याएँ हुईं। उन्होंने सुरक्षा परिषद को भी इस नरसंहार की आशांका की जानकारी नहीं दी। इसके अलावा उन्होंने 1995 मे बोस्निया में सर्बों पर बमबारी के अमरीकी कदम का समर्थन किया।

यह वह आदमी था, जिसने बाद में संयुक्त राष्ट्र के महासचिव के बतौर इस शपथ को कि वह आनेवाली पीढ़ियों को यु) की त्रासदी से निजात दिलायेगा, मूलभूत मानवाधिकारों में आस्था को पुनर्स्थापित करेगा, न्याय की स्थितियों को स्थापित करेगा और यह सुनिश्चित करेगा कि सशस्त्र सेना का उपयोग न हो, को उलटकर रख दिया। कोफी अन्नान ने इसके बरअक्स इराक पर आर्थिक प्रतिबन्धों का समर्थन किया, जिसके ;लस्वरूप 15 लाख इराकी मौत के शिकार हुए, जिनमें 10 लाख ऐसे बच्चे थे, जिनकी उम्र पाँच साल से कम थी। अन्नान ने 2003 मे बुश प्रशासन द्वारा इराक पर कब्जे का समर्थन किया, जिसके दौरान 12 लाख से अधिक मौतें हुईं। उन्होंने अफगानिस्तान पर हमले का भी समर्थन किया। वे ईरान पर हमले की सम्भावनाओं के दौरान भी निरन्तर खामोश रहे।

संयुक्त राष्ट्र शान्तिरक्षक सेना को 1988 में शान्ति का नोबेल अवार्ड दिया गया। यह एक ऐसी सेना है जो कभी भी अपने उद्देश्य में स;ल नहीं हुई। इस सेना को किसी तनावग्रस्त इलाके में भेजा जाता है ताकि वह तनाव को कम करे और आम लोगों के लिए सुरक्षा और रोजमर्रा का जीवन सुनिश्चित कर सके, जब तक कि एक स्थानीय सरकार यह काम करने योग्य न हो जाये। 1948 से अब तक 60 से अधिक ऐसे अभियानों में यह सेना लगायी गयी है और लगभग हर अभियान में यह या तो हमलावर या थोपी गयी सेना के रूप में पेश आयी। अन्ततः शान्तिरक्षक सेना जहाँ गयी, वहाँ उसने मदद की जगह नुकसान अधिक किया। इजरायल में वह लगभग आधी सदी से तैनात है और यह सब जानते हैं कि वहाँ संकट सुलझने के बजाय उलझा ही है। यह वहाँ इजरायल द्वारा मानवता के विरू) किये जा रहे अपराधों को आँख मूँद कर देखती रही है।

तीनों इजरायली प्रधानमन्त्री, जिन्हें शान्ति सम्मान दिया गया, नृशंस हत्याओं और नस्लपरस्ती के लिए जाने जाते है। मेनाकेम बेजीम ने तो फिलस्तीनियों को दो पाँववाले जानवर कहा था और उनका मानना था कि यहूदी स्वामी द्धमास्टरऋ नस्ल है और यह इस ग्रह पर दिव्य ईश्वर है। शिमोर पेरेश भी फिलस्तीन के खिलाफ उग्र सैन्य कार्रवाइयों के लिए जाने जाते हैं।

इसलिए जब नोबेल समिति अल गोर को शान्ति के लिए सम्मानित कर रही होती है तो वह असल में कोई गलती नहीं करती बल्कि वह अपने वास्तविक चारित्र को ही सामने रख रही होती है।

जहाँ तक अल गोर के पर्यावरण सम्बन्धी सरोकारों का सवाल है, हम उस पर अब बात कर सकते हैं। जब वे जलवायु परिवर्तन के खतरों के बारे में बात कर रहे होते हैं, वे पर्यावरण को पहुँच रहे खतरों के बुनियादी कारणों के बारे में बात करने में अस;ल रहते हैं–वह कारण है मुनाफे का अनियोजित और अराजक तन्त्र। वे दरअसल एक पूँजीवादी राजनेता की तरह ही एपल, गूगल और दूसरी हाइ टेक कम्पनियों में हिस्सेदारियों से धनी हुए हैं। वे सि)ान्ततः और सामाजिक सरोकारों के नजरिये से भी इसके लिए अक्षम हैं कि जलवायु परिवर्तन के बारे में गम्भीरता से बात कर सकें।

हम ऐसे मौके पर कोलम्बिया के जंगलों के एक मूल निवासी के उन शब्दों को दोहरा सकते हैं, जो अल गोर से कहे थे-''आपकी खामोशी धरती और उस पर के जीवन की मौत का प्रतीक है।''

आसाम में आदिवासियों के आन्दोलन का बर्बर दमन

❑ हरेन्द्र राणा

24 नवम्बर 2007 को आसाम के आदिवासी छात्रों की रैली पर राजधानी गुवाहाटी के स्थानीय निवासियों ने पुलिस के साथ मिलकर बर्बरतापूर्ण हमला किया। सरकारी आँकड़ों के अनुसार इस हमले में एक व्यक्ति की मृत्यु हो गयी और 260 लोग घायल हुए, जिनमें से दस घायलों की हालत गम्भीर थी। रैली के आयोजकों का मानना है कि मरने वालों की संख्या 25 से भी ज्यादा है। इस घटना के बाद आदिवासियों पर हमले के विरोध में ऑल आदिवासी स्टूडेण्ट ऐसोशिएशन द्धआसाऋ ने 36 घण्टे के बन्द का आह्वान किया। उस दौरान भी कई जगहों पर हिंसक घटनाएँ हुई।

सन्थाल आदिवासियों और चाय बागान मजदूरों को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल करने की माँग के समर्थन में 'आसा' द्वारा राजधानी गुवाहाटी के बेलटोला इलाके में इस रैली का आयोजन किया गया था। दोपहर बाद, रैली में आये लोग उत्तेजित होकर छोटे-छोटे समूहों में राजधानी के प्रशासनिक इलाके की ओर बढ़ने लगे। इन लोगों ने रास्ते की दुकानों और वाहनों में कुछ तोड़-ोड़ की। इसके बाद पुलिस ने इन पर लाठी चार्ज कर दिया जिससे घबराहट में लोग इधर-उधर भागने लगे। पुलिस की लाठियों से अपनी जान बचाकर भागते हुए इन आदिवासियों और चाय बागान मजदूरों पर स्थानीय निवासियों ने लाठी, डंडों और पत्थरों से हमला बोल दिया। रैली में आये सभी लोग दूर-दराज के इलाकों से आये हुए थे जिन्हें शहर के रास्तों के बारे में जानकारी भी नहीं थी। इसलिए ये लोग उसी जगह पर इधर-उधर दौड़ते रहे और स्थानीय लोगों और पुलिस के उन्माद का आसान शिकार बनते रहे। इन बेसहारा लोगों पर होने वाले जुल्म की हद तो तब हो गयी जब इनके साथ रैली में आयी आदिवासी महिलाओं को सड़कों पर सरेआम निर्वस्त्र करके पीटा गया और उनके साथ बलात्कार की कोशिश की गयी। बेलटोला इलाके की वह शाम रक्त-रंजित थी। आदिवासियों और चाय बागान मजदूरों की लहूलुहान नौजवान सन्तानों से सड़कें पटी हुई थीं। टी.वी. चैनलों ने एक लोमहर्षक दृश्य प्रसारित किया जिसमें दसवीं कक्षा में पढ़ने वाली एक आदिवासी छात्रा को भीड़ ने नंगा करके गुवाहाटी की सड़कों पर दौड़ा-दौड़ा कर पीटा। आखिरकार एक अधेड़ उम्र के नागरिक ने आकर उसे बचाया और अपने कपड़े उतारकर उसे तन ढकने के लिये दिये।

लम्बी लड़ाई के बाद भी अपनी माँगों के प्रति सरकार की उपेक्षा के कारण रैली में शामिल आदिवासियों में काफी उत्तेजना थी जिसके कारण उनमें से कुछ लोगों ने तोड़-ोड़ की कार्यवाई भी की। लेकिन बदले की कार्रवाई इतनी बर्बर थी कि कई लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया, सैकड़ों लोगों को घायल किया गया और उनकी बहन-बेटियों को सड़कों पर सरेआम बेइज्जत किया गया। निश्चय ही यह गैर आदिवासी स्थानीय लोगों और पुलिस बलों में गहराई तक जड़ जमाकर बैठी आदिवासियों और गरीब जनता के प्रति नफरत और क्रूरता का नतीजा है। जो लोग हताहत हुए वे पुलिस के भय से भागकर जान बचाने वाले निहत्थे लोग थे, जिन पर 4-5 घण्टे तक एकतरफा आघात होता रहा और कोई उन्हें बचाने के लिए आगे नहीं आया।

आसाम के इन आदिवासियों के शोषण और दमन-उत्पीड़न की दास्तान बहुत पुरानी है। अंग्रेजों द्वारा चाय बागान में काम करने के लिए जबरन लाये गये ये लोग आदिवासी जनजातियों से थे और आज तक उनकी स्थिति किसी तरह से दो जून रोटी जुटा लेने तक ही सीमित है। आज भी आसाम में उनकी पहचान उनकी मूल जाति से नहीं बल्कि केवल चाय बागान मजदूर के रूप में है। जिन जातियों से इनका सम्बन्ध रहा है वे सभी जातियाँ मध्य भारत के राज्यों में अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल हैं। रैली में शामिल एक समुदाय सन्थाल आदिवासी तो निर्विवाद रूप से जनजातीय समुदाय के हैं। कानूनी तौर पर इन्हें पहले ही अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल होना चाहिए था। लेकिन सरकारी अफसरों की आदिवासी विरोधी मानसिकता और निहित स्वार्थों के चलते ऐसा नहीं किया गया। पिछले 40 सालों से अपनी इस संविधान सम्मत माँग के लिए ये समुदाय संघर्षरत हैं। चुनाव से पहले वोट के लिए नेता इन्हें

हर बार आश्वासन देते हैं परन्तु अभी तक इन्हें इनका अधिकार नहीं मिला। पिछले चुनाव में काँग्रेस ने इन्हें अनुसूचित जनजाति में शामिल करने का वादा करके उनका वोट लिया था। 2005 में आसाम सरकार ने चाय बागान में काम करने आये 97 समुदायों को मैदानी जनजाति श्रेणी में शामिल करने का प्रस्ताव केन्द्र सरकार को भेजा था। इसका विरोध करते हुए गृह मन्त्री शिवराज पाटिल ने लोकसभा में कहा कि चाय बागान में आये आदिवासियों का चरित्र काफी समय से वहाँ रहते-रहते बदल गया है। इसलिए उन्हें अनुसूचित जनजाति में शामिल नहीं किया जायेगा।

आदिवासियों को चाय बागान में ले जाने का सिलसिला 1837 में अंग्रेजों द्वारा वहाँ पहला चाय बागान लगाने से शुरू हुआ था जो 1960 तक जारी रहा। इन 170 वर्षों का इतिहास आदिवासियों के लिए भीषण शोषण, प्रवंचना और विश्वासघात का इतिहास है। जब चाय बागान में काम करने वाले स्थानीय मजदूरों की कमी पड़ी तो बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और मद्रास के आदिवासियों को भारी संख्या में वहाँ लाकर बसाया गया। आते समय उन्हें तरह-तरह के लुभावने सपने दिखाये गये। लेकिन जब वे काम करने लगे तो ठेकेदारों ने उनपर बेपनाह जुल्म ढाना शुरू किया। स्थिति यह हो गयी कि खराब हालात में हाड़तोड़ मेहनत के चलते मजदूरों की मृत्यु दर काफी बढ़ गयी। इन्हीं मजदूरों में से कुछ लोग चाय बागान के आसपास सरकारी जमीनों में बसकर वहाँ खेती करने लगे जो पूर्व चाय बागान आदिवासी कहलाए। बाहर से आये इन आदिवासियों में ओराँव, सन्थाल, मुण्डा, खरिया कोच-राजबोंग्सी, ताइ-अहोम्, मोरन, मोट्टक, चुटिया सहित अनेक ऐसे समुदाय हैं जिनके आदिवासी होने में कोई सन्देह नहीं है। जाँच कमेटियों, शोध-पत्रों और सरकारी सर्वक्षणों में इसके प्रमाण भरे पड़े हैं। लेकिन भारत के रजिस्ट्रार जेनरल ने राज्य सरकार द्वारा भेजे गये प्रस्तावों को बार-बार रद्द कर दिया। 2004 में आसाम विधान सभा ने सर्व सहमति से प्रस्ताव पास कर केन्द्र सरकार को भेजा था जिसमें चाय बागान आदिवासी और पूर्व चाय बागान आदिवासी के अलावा 5 अन्य आदिवासी समुदायों को जनजाति ङ्घमैदानीऋ सूची में शामिल करने की माँग की गयी थी। रजिस्ट्रार जेनरल ने इसे भी रद्द कर दिया।

आदिवासियों का वर्तमान आक्रोश और आन्दोलन सरकार के इसी उपेक्षापूर्ण रवैये का नतीजा है। आदिवासियों की यह लड़ाई उनके अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई है जिसे दबाना सरकार के लिए काफी महँगा साबित होगा। उत्तर-पूर्व में विभिन्न समुदायों की पहचान की लड़ाई पहले ही काफी उग्र रूप धारण कर चुकी है। 24 नवम्बर की घटना के बाद भी आसाम के स्थानीय अखबारों में एक नये लड़ाकू संगठन—ऑल आदिवासी नेशनल लिबरेशन आर्मी के गठन का समाचार प्रकाशित हुआ था। लम्बे समय तक शान्तिपूर्ण आन्दोलन चलाने के बावजूद जब सरकार पर कोई असर ही न हो, तो लोगों के धैर्य का बाँध टूटना लाजिमी है। आन्दोलनों की लहर पर सवार होकर सत्ता के गलियारे में पहुँचने वाले स्थानीय समुदायों के चन्द स्फेदपोश नेताओं को अपनी जमात में शामिल करके देश का शासक वर्ग आखिर कब तक जनाक्रोश को काबू में रख पायेगा?

...अलग-अलग संगठन और खाने-पीने का भेदभाव हर हालत में मिटाना जरूरी है। छूत-अछूत शब्दों को जड़ से निकालना होगा।

जब तक हम अपनी तंगदिली छोड़कर एक नहोंगे, तब तक हममें वास्तविक एकता नहीं हो सकती। इसलिए ऊपर लिखी बातों के अनुसार चलकर ही हम आजादी की ओर बढ़ सके हैं। हमारी आजादी का अर्थ केवल अंग्रेजी चंगुल से छुटकारा पाने का नाम नहीं, वह पूर्ण स्वतन्त्रता का नाम है। जब लोग परस्पर घुल-मिलकर रहेंगे और दिमागी गुलामी से आजाद हो जायेंगे।

–भगतसिंह

उन्मादी भीड़ और राजसत्ताा का उन्माद

❑ रजनीश उपाध्याय

हाल के दिनों में बिहार में एक के बाद एक ऐसी कई घटनाएँ हुईं जिनमें दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ देखने को मिलीं। पहला, लोगों ने कई स्थानों पर खुद ही कानून को हाथ में लिया और छोटे-मोटे सन्दिग्ध अपराधियों की जान ले ली। दूसरा, बिहार की राजधानी पटना समेत कई अन्य जगह प्रदर्शन, धरना और सड़क जाम करने वाले--महिला स्वास्थ्यकर्मी, शिक्षक, डॉक्टर और राजनीतिकर्मी से लेकर बाढ़ राहत माँगने वाले लोग तक पुलिस के हाथों बुरी तरह पिट चुके हैं।

पिछले 13 सितम्बर को वैशाली जिले के राजपाकर थाने के ढेलपुरवा गाँव में भीड़ ने दस लोगों को चोर बताकर पीट-पीट कर मार डाला। इस घटना की देश भर में चर्चा हुई और नीतीश सरकार ने जिले के एस.पी. को निर्देश जारी कर कहा कि जहाँ कहीं ऐसी घटनाएँ हों, भीड़ में शामिल लोगों की पहचान कर उनके खिलाफ मुकदमा दर्ज किया जाय और सामूहिक जुर्माना लगाया जाय। राजपाकर काण्ड को लेकर सरकारी तन्त्र कितना सजग रहा, इसका अन्दाजा इससे लगाया जा सकता है कि पीड़ितों के शव को अन्तिम संस्कार के पहले ही गंगा में फेंक दिया गया। उनके परिजन मुआवजे के लिए दो माह तक इधर-उधर भटकते रहे। अन्ततः जब मीडिया में मामला उछला, तो मुख्यमन्त्री के हस्तक्षेप के बाद उनके मुआवजे की घोषणा की गयी। पुलिस जाँच में यह उजागर हुआ है कि राजपाकर में जो लोग मारे गये, वे कोई चोर नहीं, बल्कि नट जाति के थे। इनका पुश्तैनी काम शहद निकालना, जड़ी-बूटी इकठा करना और छोटे-मोटे शिकार करना रहा है। अब वे खेत मजदूरी की तरु बढ़ रहे हैं क्योंकि पुराने पेशे से उनका पेट नहीं भरता। घटना के दिन वे लोग बिना बुलाये एक दबंग व्यक्ति के यहाँ भोज खाने गये थे और सवर्णों के साथ एक ही पाँत में बैठ कर खाना खा रहे थे।

उन्मादी भीड़ के हाथों अब तक जो लोग मारे गये, वे कोई गैंगस्टर, माफिया सरगना या शातिर अपराधी नहीं थे। उनके खिलाफ छोटे-मोटे अपराध के मामले दर्ज थे। कुछ पर तो ऐसा कोई मामला भी नहीं बनता था। जो लोग मारे या पीटे गये, वे उस कमजोर तबके से आते थे जो सत्ता का समीकरण बनाने या बिगाड़ने में कोई खास भूमिका नहीं रखते हैं। बिहार के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक जीवन में भी इन दलितों के लिए कोई जगह नहीं है। वे एक ऐसी समाज व्यवस्था के शिकार है जिसमें जातिवादी, सामन्तवादी भेदभाव का जबरदस्त बोलबाला है। समता, समरसता और सामाजिक न्याय के नाम पर सत्ता के शीर्ष तक पहुँचने वाले करिश्माई नेताओं ने इस सामाजिक ढाँचे को चुनौती देना तो दूर, उसे और अधिक मजबूत बनाया है।

राजपाकर काण्ड के पाँच दिन पहले नौ सितम्बर को भागलपुर के नाथनगर में एक महिला की चेन छीनने के आरोपी सलीम ऊर्फ औरंगजेब को भीड़ ने पीटा और दो पुलिस वालों ने भारी भीड़ के बीच उसके पैर मोटरसाइकिल के पीछे बाँधकर उसे घसीटा। इस घटना को निजी टीवी चैनलों ने खबर बनाकर खूब बेचा। पी.यू.सी.एल. की रिपोर्ट बताती है कि वर्ष 2005 में बिहार में पीट-पीट कर मार डालने की घटना में प्रति माह 14 लोग मारे गये। वर्ष 2006 में इसमें थोड़ी कमी आयी, लेकिन इस साल ऐसी घटनाएँ बढ़ी हैं। मीडिया में प्रकाशित रिपोर्ट के मुताबिक, अगस्त से अक्टूबर 2007 के बीच ऐसी घटनाओं में करीब 45 लोग मारे गये हैं।

दरअसल लोगों का यह गुस्सा बार-बार अकारण नहीं फूट रहा है। कभी सामन्ती मन-मिजाज और शोषण-उत्पीड़न के लिए जाना जाने वाला बिहार अब बदल रहा है। आर्थिक विभाजन की चौड़ी होती खाई के लिए कुछ उदाहरण काफी हैं। हाल ही में एक अखबार में यह खबर छपी कि सत्ताधारी दल के एक बाहुबली विधायक ने नगद दो करोड़ रुपये पटना के एक निजी बैंक में जमा करने के लिए भेजा, जिसमें से एक करोड़ रुपये रहस्मय तरीके से गायब हो गये। बाद में

उक्त बैंक ने 70 लाख रुपये उक्त विधायक को चुकता किया। दूसरी तरु, राज्य सरकार गरीबी रेखा से नीचे वालों द्धबी.पी.एल.ऋ की एक सूची तैयार कर रहा रही है। इसकी अन्तिम रिपोर्ट आना बाकी है और करीब सवा करोड़ परिवारों के नाम उसमें दर्ज हो चुके हैं। हालाँकि जिस ार्मूले के आधार पर गरीबी का निर्धारण हो रहा है, उस पर विवाद है। यानि जिन लोगों के नाम पहले से बी.पी.एल. सूची में दर्ज है, वे गरीब नहीं, बल्कि दरिद्र हैं। यानि एक छोटे से हिस्से के पास समृ) और सम्भावनाओं के अनन्त रास्ते हैं और वे विलासितापूर्ण जीवन जीते हैं। दूसरी तरु शेष आबादी के हिस्से में कुण्ठा व हताशा है, क्योंकि उनके रोजगार के अवसरों में लगातार कटौती हो रही है। नीतीश सरकार में नयी नियुक्तियाँ अनुबन्ध के आधार पर हो रही हैं। शहरों की स्काई व्यवस्था, अस्पतालों में जाँच व स्काई, बिजली के उत्पादन से लेकर उसके वितरण, मेडिकल व तकनीकी शिक्षा जैसे क्षेत्र धीरे-धीरे निजी हाथों को सौंपे जा रहे हैं। विश्वविद्यालयों में स्व वित्तपोषित योजना ने निम्न मध्यम व गरीब तबके के छात्रों को व्यावसायिक पाठ्यक्रम से दूर किया है। अलबत्ता बिहार में सेवा क्षेत्रों का विस्तार हुआ है। राजधानी पटना में रोज ब रोज रेस्टोरेण्ट, ब्राण्डेड कम्पनियों के शोरूम, निजी व विदेशी बैंक आदि खुल रहे हैं। इस साल धनतेरस व दीपावली के मौके पर पटना में करीब एक हजार कारें बिकीं। दूसरी तरु, रोजगार से जुड़े मैनुैक्चरिंग सेक्टर में निवेश नहीं के बराबर है। लिहाजा उद्योगों की हालत खस्ता है। उद्योगों में कौशल की माँग है। खेती में पूँजी के आगमन के बाद किसानों के बीच वर्ग-विभाजन बढ़ रहा है। धनी किसानों की देखा-देखी बैंक या सूदखोरों से कर्ज लेकर खेती में पूँजी लगा रहे छोटे किसान जाने-अनजाने बन्धक बन रहे हैं। केन्द्र व राज्य सरकार की ग्रामीण योजनाओं का एक बड़ा हिस्सा उस वर्ग तक पहुँच रहा है, जिसका सत्ता से सीधा सरोकार है। कमीशन खोरी की इस राशि ने गाँवों में नवधनाढ्य तबके को जन्म दिया है, जो अब गरीबी व बेबसी के दुख भरे दिनों को छोड़ विलासितापूर्ण जीवन जीने की लालसा रखता है। उसका पुराने सामन्ती शक्तियों के साथ संश्रय कायम हुआ है।

कुल मिलाकर एक बड़ी आबादी को अनिश्चित और सम्भावनाशून्य भविष्य की आशंका में जीना पड़ रहा है। ऐसे में भीड़ द्वारा कुछ लोगों को पीट-पीट कर मार डालने की घटना को महज अपराध या कानून-व्यवस्था के दायरे में देखना वास्तविकता से मुँह चुराने जैसा होगा। ऐसी घटनाएँ यह बता रही हैं कि लोगों में आक्रोश है और उनका व्यवस्था से भरोसा उठ रहा है। दूसरी तरु, यदि माँगो को लेकर सड़क पर उतरे सरकारी कर्मचारी या वंचित तबके पर पुलिस लाठियाँ भाँजती है, तो यह भी सिर्फ पुलिस प्रशासन का वहशीपन भर नहीं है। दोनों ही प्रवृत्तियों की जड़ें बिहार के इन्ही सामाजिक आर्थिक ढाँचे में निहित हैं।

नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद प्रतिरोध के लिए पहले से जो गुंजाइश बची थी, वह खत्म की जा रही है। दरअसल बिहार की जनता को देने के लिए अब यहाँ के शासकों की झोली में लाठी, गोली और दमन-उत्पीड़न के सिवाय और भला बचा भी क्या है। व्यवस्था ने अपने ही तन्त्र को इस कदर कटघरे में खड़ा करना शुरु किया है, गोया वे कामचोर व काहिल लोग हैं। ऐसे में धरना व प्रदर्शन के लिए भी सभी शहरों में एक खास जगह चिन्हित किए जा रहे हैं। इससे इधर-उधर हुए, तो इस कदर पिटाई होगी कि आप दोबारा प्रदर्शन करने की जुर्रत नहीं करेंगे। पटना में कभी हड़ताली मोड प्रतिरोध की ताकतों का केन्द्र हुआ करता था। सरकार ने अब यहाँ धरना देने पर प्रतिबन्ध लगा रखा है। इसकी जगह हार्डिंग पार्क मुकर्रर की गयी है, क्योंकि इस रास्ते से वीआइपी यदा-कदा ही गुजरते हैं।

अपराध के खात्मे और हक माँगने वालों से निबटने की जो नयी प्रवृत्तियाँ सामने आयी है, वे एक ही जंगल तन्त्र की ओर बढ़ते बिहार की दो प्रवृत्तियाँ हैं। भीड़ उन्मादी बनकर अपराधी साबित होने के पहले और बचाव का मौका दिये बगैर ही कथित तौर पर त्वारित न्याय दे रही है। दूसरी तरु, जो लोग अपने वाजिब हक को लेकर सरकार के पास पहुँच रहे हैं, उन निहत्थे लोगों को आम तौर पर पुलिस की लाठियाँ और यदा-कदा गोली भी मिल रही है। दोनों ही तरह की वारदातों में निशाने पर वे हैं, जो गरीब, निम्न मध्यम वर्ग और कमजोर तबके के हैं। र्क इतना ही है कि एक मामले में दबंगों की बेकाबू भीड़ राजसत्ता को नकार रही होती है तो दूसरे में राजसत्ता खुद ही बेकाबू होकर अपनी कौतुक दिखा रही होती है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों से टकराने की जिम्मेदारी तो अन्ततः उन्हें ही उठानी होगी, जो समाज के बदलाव में यकीन रखते हैं।

क्रिकेट का जुनून

❑ अमरपाल

भारतीय क्रिकेट टीम ने 24 सितम्बर 2007 को जब पाकिस्तान को हराकर टी-20 क्रिकेट विश्वकप जीता तो पूरे देश में उत्सव मनाया गया। अगले कई दिनों तक समाचार पत्रों और न्यूज चैनलों से लेकर गली-मुहल्ले, घर-द"तर तक, बच्चे, बूढ़े और जवान, सब पर क्रिकेट का बुखार चढ़ा रहा। इसी मौके पर देश के कई हिस्सों से साम्प्रदायिक दंगों की खबरें आयीं। उत्तराखण्ड के रुद्रपुर, किच्छा और गदरपुर में भारतीय टीम की जीत का 'विजय जुलूस' निकाल रही उन्मादी भीड़ द्वारा अल्पसंख्यकों के साथ झगड़े और तोड़-ोड़ की कार्रवाई की गयी। दूसरे सम्प्रदाय ने इसका प्रतिकार किया, जिससे साम्प्रदायिक दंगों की स्थिति पैदा हो गयी। पुलिस को लाठी-गोली चलानी पड़ी। राजधानी दिल्ली के कल्याणपुरी इलाके में भी 'विजय जुलूस' ने साम्प्रदायिक दंगों का रूप ले लिया।

यह तो रही जीत के जुनून की बात। हारने के बाद के निराशा भरे उन्माद में भी टीम के प्रशंसक अक्सर मार-काट और तोड़-ोड़ पर उतारू हो जाते हैं। मार्च 2007 के विश्व कप में भारतीय क्रिकेट टीम जब बांग्ला देश से हार गयी तो उन्मादियों ने राँची में धोनी के घर पर तोड़-ोड़ की। यही कारण है कि टी-20 के ाइनल मैच से पहले इरुान पठान के परिवार वाले भय और आतंक के साये में जी रहे थे। आखिर क्या कारण है कि क्रिकेट के खिलाड़ी तो जीत-हार को खेल भावना के साथ ग्रहण करते हैं जबकि उनके प्रशंसक उन्माद में आकर खून-खराबा करने लगते हैं?

क्रिकेट का खेल हमारे मनोरंजन का एक ऐसा महँगा साधन है जिसे लाखों में एक आदमी ही खुद खेलता है, बाकी बस दूसरों को खेलते हुए देखते हैं। दर्शकों के भी कई वर्ग हैं। कुछ हजार लोग स्टेडियम में बैठकर हजारों रुपये खर्च करके आमने-सामने मैच देखते हैं। बाकी करोड़ों लोग अपने कमरे में या पड़ोसी के घर जाकर या सड़क पर खड़े-खड़े ही टीवी के पर्दे पर मैच देखते हैं। इस देश के मुठी भर अमीर लोग ही इस महँगे, रईसी खेल में खुद हिस्सा ले पाने में समर्थ हैं। फिर भी इस खेल का जुनून देश के करोड़ों लोगों के सिर पर सवार रहता है। आखिर क्यों?

इस उन्माद का एक कारण तो यही है कि हमारे देश में सभी खेलों को किनारे करके केवल क्रिकेट को ही बढ़ावा दिया जाता है। कुछ तथ्य हमारे देश में अलग-अलग खेलों और खिलाड़ियों के साथ किये जाने वाले भेदभाव को स्पष्ट करते हैं।

टी-20 का विश्वकप जीतने के बाद, जब भारतीय क्रिकेट टीम मुम्बई एयरपोर्ट पहुँची तो उसका अभूतपूर्व स्वागत किया गया। भारतीय क्रिकेट कन्ट्रोल बोर्ड द्धबी.सी.सी.आई.ऋ के अध्यक्ष शरद पवार, महाराष्ट्र के मुख्यमन्त्री विलासराव देशमुख और अनेक गणमान्य हस्तियाँ वहाँ ूल-मालाएँ लेकर खड़ी थीं। प्रधानमन्त्री ने संसद भवन से क्रिकेट टीम को बधाई दी। राष्ट्रपति ने भी भारतीय टीम को बधाई सन्देश भेजा और पूरी टीम को भोज के लिए राष्ट्रपति भवन में आमन्त्रित किया।

इसके विपरीत, कुछ महीने पहले भारतीय हॉकी टीम 'एशिया कप' जीतकर भारत लौटी तो उसपर किसी ने ध्यान नहीं दिया। इसी तरह उन्हीं दिनों विश्वनाथन आनन्द तीसरी बार विश्व शतरंज का खिताब जीतकर स्वदेश लौटे तो उनके स्वागत के लिए हवाई अड्डे पर उनके कुछ रिश्तेदार और ेडरेशन के एक-दो अधिकारी ही मौजूद थे।

भारत जैसे गरीब देश का क्रिकेट संघ बीसीसीआई विश्व के सबसे धनी खेल संघों में से एक है। वर्ष 2006-2007 में इसका शु) मुनाफा 197.45 करोड़ रुपये था। जबकि उसी वर्ष देशभर में हर तरह के खेलों और शारीरिक शिक्षा के लिए सरकार द्वारा कुल 454.54 करोड़ रुपये दिये गये। अकेले क्रिकेट पर कुल सालाना खर्च इससे कई गुना ज्यादा है। बीसीसीआई से जुड़े इस भारी दौलत और शोहरत के लोभ में ही लालू प्रसाद और शरद पवार जैसे दिग्गज इसकी कुर्सी के लिए लालायित रहते हैं।

टी-20 कप जीतने पर टीम के प्रत्येक खिलाड़ी को करोड़ों रुपये का ईनाम और तोहफा दिया गया। एयर इण्डिया ने इस टीम के प्रत्येक खिलाड़ी को आजीवन मु"त हवाई यात्रा का तोहफा दिया है। दूसरी ओर सन् 1985 में अजितपाल

सिंह के नेतृत्व में विश्वकप जीतने वाली हॉकी टीम, सरकार से कई बार प्रार्थना करने के बावजूद आजतक मु"त रेल पास भी प्राप्त नहीं कर सकी।

2007 का एशिया कप जीतने वाली हॉकी टीम के खिलाड़ियों को पुरस्कार राशि पाने के लिए भूख हड़ताल करनी पड़ी। इसके बाद ही सभी खिलाड़ियों को आठ-आठ लाख रुपये दिये गये। सरकर ने ओलम्पिक खेलों की तैयारी के लिए प्रति खिलाड़ी 13 लाख रुपये खर्च किये जबकि अकेले सचिन तेन्दुलकर की सालाना कमाई 25 करोड़ है।

एक तरु जहाँ प्रतियोगिता के दौरान क्रिकेट खिलाड़ियों के ऐशो-आराम का पूरा ध्यान रखा जाता है, दूसरी ओर प्रतियोगिता के दौरान हॉकी खिलाड़ियों को अपनी पोशाक भी खुद धोनी पड़ती है।

सरकारी खेल नीति के इस भेदभाव का और भी घिनौना रूप महिला खिलाड़ियों के साथ भेदभाव के रूप में सामने आता है। एक ओर जहाँ उन्हें खेल अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले मानसिक और शारीरिक शोषण को चुपचाप सहन करना होता है, वहीं दूसरी ओर उन्हें दोयम दर्जे की सुविधाएँ दी जाती हैं।

जो बीसीसीआई अपने पुरुष खिलाड़ियों को एक प्रतियोगिता जीतने पर करोड़ों रुपये का ईनाम देती है, वही महिला टीम पर अपनी आमदनी में से एक ीसदी से भी कम खर्च करती है।

पुरुष हॉकी टीम के प्रत्येक खिलाड़ी को एशिया कप जीतने पर आठ लाख रुपये दिये गये जबकि यही प्रतियोगिता जीतने वाली महिला हॉकी टीम के प्रत्येक खिलाड़ी को मात्र 25 हजार रुपये दिये गये।

अभी पिछले दिनों ओलम्पिक के लिए पात्रता मैच खेलने गयी भारतीय महिला ुटबाल टीम शून्य डिग्री के आसपास तापमान में दक्षिण कोरिया की टीम का मुकाबला कर रही थी। इतनी ठंड में खेल रही भारतीय टीम की खिलाड़ियों की पोशाक आधी बाजू और घटिया किस्म की थी। इसके मुकाबले दक्षिण कोरिया की खिलाड़ी पूरी बाजू की गर्म पोशाक में थीं। भारतीय महिला खिलाड़ी को अपने से मजबूत टीम का मुकाबला करने के साथ-साथ प्रतिकूल मौसम से भी लड़ना पड़ रहा था।

ये सभी तथ्य देश में जारी भेदभावपूर्ण खेल नीति को उजागर करते हैं।

क्रिकेट का खेल उपनिवेशवादी अंग्रेजों की खोज है और आज भी मुख्यत: उन्हीं देशों में खेला जाता है जो एक दौर में ब्रिटेन के गुलाम थे। हमारे देश में भी इस खेल की शुरुआत औपनिवेशिक गुलामी के दौर में अंग्रेजों और उनके चाटुकार भारतीय रईसों द्वारा की गयी। आज भी यहाँ के शासक वर्गों पर औपनिवेशिक गुलामी की मानसिकता हावी है। देश को 200 सालों तक गुलाम बनाकर रखने वाले अंग्रेजों का आज भी शुक्रिया अदा करते हुए हमारे प्रधानमन्त्री कहते हैं कि अंग्रेजों ने हमें सभ्य बनाया और शासन करने की कला सिखाई है। क्रिकेट को इतना अधिक महत्त्व देने के पीछे शासकों की उपनिवेशवादी मानसिकता का काी योगदान है। यही कारण है कि आजादी के बाद हॉकी को राष्ट्रीय खेल का दर्जा दिये जाने के बावजूद शासक वर्गों ने क्रिकेट को विशेष महत्त्व देकर अन्य खेलों की तुलना में इसे अधिक बढ़ावा देना जारी रखा। '90 का दशक आते-आते जब साम्राज्यवादियों ने नये सिरे से भारत पर अपना वर्चस्व स्थापित करना शुरू किया तो उन्होंने इस खेल को अन्य सभी खेलों के ऊपर तरजीह दी। क्रिकेट का जुनून भारतीय जनता के दिमाग में भरने के लिए काी सूझबूझ और गहराई से काम किया गया। इसके लिए टीवी रेडियो अखबार और पत्र-पत्रिकाओं को क्रिकेट के प्रचार में झोंक दिया गया। क्रिकेट से जुड़ी खबरों को अन्य सभी खबरों के ऊपर तरजीह दी गयी और खेल पृष्ठ पर तो जैसे उसका कब्जा ही हो गया। हद तो यह है कि अब अखबार के पहले पन्ने पर सबसे मोटे शीर्षक के साथ क्रिकेट की खबरों को प्रमुखता मिलने लगी है, जैसे एक अरब से भी ज्यादा आबादी वाले इस देश में किसी दूसरी घटना का इससे अधिक महत्त्व ही न हो।

टीवी पर हर क्रिकेट मैच का सीधा प्रसारण और क्रिकेट से सम्बन्धित लम्बी-लम्बी चर्चाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं। देश की संसद और विधानसभाओं में भी क्रिकेट को एक अहम मुद्दा बनाकर बहसें होने लगीं। राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री तक क्रिकेट मैच की दर्शक दीर्घाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने लगे। इस तरह क्रिकेट को भारत की अस्मिता और क्रिकेट खिलाड़ियों को 'नये भारत' के 'नायकों' के रूप में भारतीय समाज पर आरोपित करने तथा भारत की जनता में क्रिकेट का जुनून पैदा करने में देशी-विदेशी थैलीशाह पूरी तरह सफल हुए। उनकी योजना की सफलता की बानगी है कि आज धोनी का बाल कटवाना राष्ट्रीय खबर बनता है और देश के करोड़ों युवाओं के बीच उनकी केश-सज्जा पर चर्चाएँ होती हैं।

देश की भारी आबादी को क्रिकेट के नशे का गुलाम बनाने की साजिश में सफलता पाने के बाद अब सरकार और देशी-विदेशी सरमायादार इससे भरपूर लाभ उठा रहे हैं। क्रिकेट खिलाड़ियों को 'नायक' के रूप में स्थापित करके आज उनका इस्तेमाल वे तरह-तरह की उपभोक्ता वस्तुओं के प्रचारक के रूप में कर रहे हैं। जिससे उनके उत्पादों की बिक्री और मुनाफे में बेहिसाब बढ़ोत्तरी हुई है।

धोनी को नौजवानों के आदर्श के रूप में खासतौर से स्थापित किया गया कि कैसे एक साधारण परिवार का नौजवान सफलता की चोटी पर पहुँच गया। ताकि देश का बड़ा तबका उसे अपना माने और उसकी नकल करे। जाहिर है कि मध्यम और निम्न मध्यम वर्ग के करोड़ों ग्राहकों को रिझाने के लिए उन्हीं के बीच का कोई चेहरा विज्ञापन करे तो ज्यादा असरदार होगा। इसीलिए विज्ञापन की दुनिया में धोनी की कीमत आज शाहरुख खान के बाद सबसे ज्यादा है। उसे एक विज्ञापन के लिए 4-5 करोड़ रुपये मिलते हैं।

विज्ञापन के साथ साथ क्रिकेट में देशी-विदेशी कम्पनियों की सीधी दखलन्दाजी भी तेजी से बढ़ी है। उपभोक्ता वस्तुओं के नाम से प्रतियोगिताएँ आयोजित हो रही हैं, जैसे-पेप्सी कप, एल. जी. कप, सहारा कप इत्यादि। इसी के साथ-साथ विभिन्न टीवी चैनलों पर प्रसारण और विज्ञापनों के जरिये भी भरपूर मुनाफा बटोरा जाता है। मैच फिक्सिंग और सट्टेबाजी भी पिछले कुछ सालों से काफी तेजी से अपना पाँव पसार रही है। कुल मिलाकर क्रिकेट आज अरबों-खरबों का कारोबार बन गया है।

एक तरु साम्प्रदायिक राजनीतिक पार्टियों ने क्रिकेट की खेल भावना को उन्माद और विद्वेष के रंग में रंगने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने दिया तो दूसरी ओर, इसका ायदा उठाकर मैच के आयोजकों ने भरपूर कमाई की। दुबई के शेख अपने यहाँ साल में दो बार क्रिकेट प्रतियोगिता आयोजित करते हैं जिसमें भारत और पाकिस्तान की टीमें जरूर खेलती हैं। मैच के दौरान दोनों देशों के आपसी सम्बन्धों में कड़वाहट और धार्मिक उन्माद का ग्राफ ऊँचा करके दर्शकों द्धखासकर टीवी चैनलों के दर्शकोंऋ की संख्या बढ़ाकर भरपूर मुनाफा कमाया जाता है।

औपनिवेशिक खेल क्रिकेट को भारत की पहचान के रूप में स्थापित करके शासक वर्गों को पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति को भारतीय समाज में स्थापित करने और अपनी जनविरोधी नीतियों के पक्ष में वातावरण तैयार करने में भी काफी मदद मिली है। क्रिकेट के माध्यम से आम जनता में साम्प्रदायिक उन्माद पैदा करके उन्होंने जनता के बीच की एकता को कमजोर किया है। साथ ही इस गैर जरूरी मुद्दे को सबसे जरूरी मुद्दा बनाकर तथा जनता की नजर में असली दोस्त-दुश्मन की पहचान को धुंधाला करके उन्हें अपने खिलाफ जनता के गुस्से और विरोध की दिशा मोड़ने में सहायता मिली है। इसका उदाहरण मैच के बाद होने वाले दंगो में दिखायी देता है। यही कारण है कि युवा पीढ़ी भूख, गरीबी, बेकारी, शोषण और अत्याचार की असली समस्याओं पर विचार करने के बजाय क्रिकेट के नशे में मस्त रहती है और क्रिकेट के आँकड़े कण्ठस्थ करके अपनी जानकारी पर झूठा गर्व करती है।

सन् 1990 के बाद से तेजी से देश की सभी नीतियों में देशी-विदेशी सरमायादारों के हितों के अनुरूप परिवर्तन किये जा रहे हैं। खेल का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रह सकता। नहीं तो वह खेल जिसका मैच पाँच-पाँच दिन तक लगातार चलता है, आम जनता का खेल कैसे हो सकता है। ऐसा खेल केवल निठल्ले और परजीवी लोगों के मनोरंजन का ही साधन हो सकता है। **हमारे देश में क्रिकेट को सभी खेलों के ऊपर तरजीह देने और पुरुष खिलाड़ियों को महिला खिलाड़ियों से ऊपर तरजीह देने की खेल नीति देशी-विदेशी सरमायादारों के हितों को आम जनता के हितों के ऊपर तरजीह देने की घरेलू नीति के ही समरूप है।**

जिस तरह देश में अमीरी-गरीब के बीच खाई बढ़ती जा रही है उसी तरह खेल-खेल के बीच भी यह खाई चौड़ी होती जा रही है। एक तरफ क्रिकेट, गोल्फ, टेनिस और ब्लियर्ड जैसे अमीरों के खेल मुट्ठीभर लोगों के बीच फल-फूल रहे हैं। दूसरी तरफ कबड्डी, बॉलीबॉल, हॉकी, फुटबॉल जैसे गरीबों के खेल हासिये पर फेंक दिये गये हैं। इसलिए आज हमारे लिए आवश्यक है कि गुलाम मानसिकता के परिचायक इस क्रिकेट के उन्माद का शिकार न हों और साम्राज्यवादियों द्वारा इस खेल के जरिये अपने निहित स्वार्थ सा ाने की घिनौनी चालों को समझें। मुट्ठीभर रईसजादों को खेलते देख ताली पीटने तथा विज्ञापन से करोड़ों की कमाई करने वाले खुदगर्ज खिलाड़ियों के पोस्टर लगाने के बजाय हमें इस मसले पर विचार करना होगा कि देश की समस्त युवा पीढ़ी को खेल का समान अ िकार और अवसर कैसे प्राप्त होगा।

समझौतों-षड्यन्त्रों में उलझी नेपाल की क्रान्ति

❑ बुद्धेश

आज नेपाली क्रान्ति दो राहे पर नहीं बल्कि चौराहे पर खड़ी है। क्रान्ति के दोस्त और दुश्मनों के बीच सत्ता-संघर्ष जारी है। शह और मात का खेल चल रहा है। नेपाली क्रान्ति जीवन-मरण के संघर्ष में फँसी हुई है और दिन गुजरते जा रहे हैं।

देश-विदेश के पिछले अंकों में कहा गया है कि ''क्रान्ति में समय का सवाल बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। सालों की बात कौन करे, महीने भी लम्बे होते हैं। घंटे-मिनट और पल का भी हिसाब लगाया जाता है। कहते हैं, क्रान्ति के रथ में पंख लगे हुए घोड़े जुते होते हैं, क्रान्ति गरुड़ पर सवार होकर द्रुतगामी गति से अपनी यात्रा पूरी करती है।''

सचमुच आज नेपाल में समय बीतता जा रहा है। चीजें हाथों से निकलती दिखायी दे रही हैं। प्रतिक्रियावादी ताकतें अपने को लगातार मजबूत करती जा रही हैं और क्रान्तिकारी ताकतें ''दबाव और समझौते'' में उलझी हुई हैं। 20 अप्रैल 2006 से अब तक की घटनाएँ यही साबित कर रही हैं।

नेपाल की इस जनवादी क्रान्ति की सम्भावनाओं और चुनौतियों के बारे में अपनी प्रमूख चिन्ताओं की ओर भी संक्षेप में देश-विदेश के पिछले अंकों में इशारा किया गया है।

गणतन्त्रा का सवाल

20 अप्रैल 2006 का दिन जनवाद के लिए नेपाली जनता के लम्बे और पीड़ादायी संघर्ष का एक अहम पड़ाव था। उस दिन सदियों पुराने राजतन्त्र के दमन-उत्पीड़न को हमेशा के लिए खत्म कर देने का मार्ग प्रशस्त हुआ था। लेकिन उस दिन जन-सैलाब में राजतन्त्र बहा नहीं, बचा रह गया। हालाँकि जनता की क्रान्तिकारी ऊर्जा और जोश, समझौते और षड्यन्त्रों में उलझने लगी लेकिन तत्कालीन सत्तारूढ़ सात पार्टियों को न चाहते हुए भी कानून बनाकर राजतन्त्र को नख-दन्त विहीन बनाने की कोशिश करनी पड़ी। राजतन्त्र के उन्मूलन के सवाल पर सभी पार्टियों में सै)ान्तिक सहमति है। लेकिन 20 अप्रैल 2006 को काठमाण्डु में जन-सैलाब उमड़ने के बाद से एक साल छ महीने का समय बीत चुका है और राजतन्त्र अभी भी जिन्दा है। इस बीच कानून बनाकर राजतन्त्र को खत्म करने के जितने भी प्रयास किये गये, वे एक प्रकार से राजशाही को बचाने की कोशिशें ही साबित हुईं। अब तो स्थिति ऐसी बन गयी है कि क्रान्तिकारियों के लाख प्रयास के बावजूद 17 दिसम्बर 2007 को हुए नये 23 सूत्रीय समझौतों में नेपाल को सिर्फ सशर्त गणतन्त्र घोषित करने की ही सहमति बन पायी। प्रधानमन्त्री गिरिजा प्रसाद कोइराला ने राजतन्त्र को खत्म करने के लिये हुए इस समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किया तथा बाकी पार्टियों ने भी राजतन्त्र की एक तरह से रक्षा करते हुये उसे संविधान सभा के चुनाव तक बचा लिया। समझौतों में साफ-साफ कहा गया है कि अन्तिम संविधान में होने वाले तीसरे संशोधन में राजतन्त्र और नरेश के बारे में कुछ भी नहीं कहा जायेगा।

पिछले वर्ष हुए बारह सूत्रीय समझौते के मुताबिक राजतन्त्रात्मक संस्थाओं के समानान्तर नयी उभरती जनता की जनवादी संस्थाओं को विघटित कर दिया गया।

पिछले डेढ़ सालों से जनता के बीच से उभरती नयी जनवादी संस्थाएँ रौंदी जा रही हैं जबकि राजतन्त्रात्मक एवं नकली लोकतान्त्रिक संस्थाएँ अपने को मजबूत करने में लगी हुई हैं।

राजा और राजशाही अभी बरकरार हैं। शासन सत्ता पर सवर्ण-सामन्ती शक्तियाँ काबिज हैं और नेपाली अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति मूलतः सामन्ती बनी हुई है। राजा न सिर्फ राजमहल में अभी मौजूद है, नेपाली शासन-व्यवस्था के शीर्ष पदों पर उसके पिट्ठू भी मौजूद हैं। उस दौरान गिर"तार हुई जनता और उसके कई नेता अभी भी जेलों में बन्द हैं।

नेपाली गणतन्त्र का नवजात बिरवा मुरझाता हुआ सा प्रतीत हो रहा है।

संवि ाान-सभा

20 अप्रैल 2006 के जन-सैलाब से घबराकर भारतीय, अमरीकी और नेपाली यथास्थितिवादियों ने एक सुनियोजित षड्यन्त्र द्वारा राजतन्त्र की पुरानी व्यवस्था को बचाये रखने के इरादे से अपनी पुरानी संसद को बहाल करवाया तथा राजतन्त्र के खैरख्वाह गिरिजा प्रसाद कोईराला को प्रधानमन्त्री बनवाया। मगर भ्रातृहन्ता नेपाल नरेश उस समय तक अपनी हैसियत खो चुका था और जनता में काफी अलोकप्रिय हो चुका था। नर्जी लोकतन्त्रवादी भी जनता में अपनी विश्वसनीयता खो चुके थे। इसलिए मजबूर होकर अन्तरिम संसद, अन्तरिम संविधान और अन्तरिम सरकार बनायी गयी तथा 20 जून 2006 को संविधान सभा के चुनाव का ैसला हुआ। लेकिन प्रतिक्रियावादियों का असली मकसद कुछ और ही था। उनका दाँवपेंच जारी रहा और 20 जून 2006 को होने वाला संविधान सभा का चुनाव, चुनाव आयोग के माध्यम से टलवा दिया गया। जनता की सजगता और क्रान्तिकारियों के प्रयास अस्फल सि) हुए।

बाद में चुनाव आयोग ने नेपाल की कम्युनिष्ट पार्टी द्धमाओवादीऋ सहित सभी सत्तारूढ़ पार्टियों की सहमति से 22 नवम्बर 2007 को संविधान सभा का चुनाव कराने की घोषणा की।

इस बीच नेपाल के राजनीतिक शक्ति-सन्तुलन में काफी बदलाव आ चुका था। नेपाली कम्युनिष्ट पार्टी द्धमाओवादीऋ के भीतर से म)शी समुदाय के कुछ कार्यकर्ता अलग हो गये और उन्होंने नेपाल की तराई में म)शी समुदाय की स्वायत्तता की माँग को लेकर सशस्त्र आन्दोलन छेड़ दिया। पूरी तराई में हिंसक झड़पें होने लगीं। कई शहरों में क"र्यू लगाया गया और सुनियोजित तरीके से क्रान्तिकारियों को तराई से खदेड़ने की कोशिश की गयी। तराई के जमीन्दारों, व्यापारियों और राजतन्त्रवादियों ने इस आन्दोलन को भरपूर आर्थिक-राजनीतिक सहयोग दिया।

नेपाली समाज में भ्रम की स्थिति ैलने लगी।

लोमड़ी की तरह मौके की तलाश में रहने वाली गठबन्धन की अवसरवादी पार्टियों को ऐसे ही मौके की तलाश थी। संविधान सभा के चुनाव को टालते रहने का प्रयास करने वाली इन पार्टियों ने 22 नवम्बर 2007 को ही संविधान सभा का चुनाव कराने की जोरदार तैयारी शुरू की ताकि परिस्थिति का लाभ उठाकर क्रान्तिकारियों को संविधान सभा से बाहर रखा जा सके। ऐसी स्थिति में अब तक संविधान सभा के चुनाव की पुरजोर वकालत करने वाले नेपाली क्रान्तिकारियों ने संविधान सभा चुनाव के बहिष्कार की घोषणा कर दी।

चुनाव से भाग खड़े होने, हार की सम्भावना से डर जाने और तानाशाही का आरोप लगाकर माओवादी क्रान्तिकारियों को बदनाम किया गया। प्रतिक्रियावादियों के इन षड्यन्त्रों को समझते हुए क्रान्तिकारी भी अन्तरिम मन्त्री मण्डल से स्तीफा देकर बाहर आ गये और उन्होंने जनता तक अपनी सही बात पहुँचाने के लिए अभियान शुरू किया। उन्होंने इस स्थिति से निपटने के लिए सात-पार्टियों के सम्मुख एक तीन सूत्री प्रस्ताव पेश किया–

1. संविधान सभा के चुनाव के पूर्व ही देश को गणतन्त्र घोषित किया जाय और राजतन्त्र की समाप्ति की घोषणा की जाय।
2. संविधान सभा का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत कराया जाय।
3. जन मुक्ति सेना को नेपाली सेना में विलीन करके एक नयी सेना बनायी जाय।

नेपाली काँग्रेस और सात-पार्टियों ने उनके इस प्रस्ताव को सिरे से खारिज कर दिया और उन्हें काफी भला-बुरा कहा। नेपाली संसद की बैठक बुलायी गयी, बहस भी हुई। लेकिन वहाँ भी यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। इस प्रस्ताव को पारित कराने के लिए अन्तरिम संसद में दो-तिहाई बहुमत जरूरी था जो नेपाली क्रान्तिकारियों के पास नहीं था। उन्होंने बगावत की धमकी दी जिसके बाद एक बार फिर वार्ताओं का सिलसिला शुरू हुआ। कई दौर की वार्ताओं के बाद 17 दिसम्बर को एक नरम रुख वाला समझौता हुआ, जिसमें नेपाल को सशर्त गणतन्त्र घोषित करने पर सहमति बनी। इस पर प्रधानमन्त्री गिरिजा प्रसाद कोइराला ने तेइस सूत्री समझौते से असहमति जतायी और समझौते पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।

समझौते के मुताबिक अप्रैल 2008 के मध्य तक संविधान सभा का चुनाव कराया जायेगा। तब तक राजा और उसका राजतन्त्र बना रहेगा। संविधान सभा के लिए सीटों की संख्या 497 से बढ़ाकर 601 कर दी गयी जिसमें से 335 सीटों पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत चुनाव होंगे जबकि 260 सीटों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रत्याशी चुनाव लड़ेंगे। 26 सीटों को मन्त्रीमण्डल नामित करेगा।

एक बार फिर क्रान्तिकारियों के खिलाफ दुष्प्रचार शुरू

हो गया कि इन पर भरोसा नहीं किया जा सकता और ये संविधान सभा के चुनाव में शायद ही हिस्सा ले। राजा समर्थक ताकतों ने भी अब खुलकर अपना मोर्चा सम्भाल लिया है।

नेपाली क्रान्ति संकट में

20 अप्रैल 2006 से अब तक माओवादी क्रान्तिकारियों ने सामन्तवादी, पूँजीवादी-यथास्थितिवादी पार्टियों को भारी रियायतें दी हैं जबकि बदले में इन पार्टियों द्वारा उन्हें कमजोर करने की लगातार कोशिशें की गयीं। चाहे जन मुक्ति सेना को कैम्पों में रखने और उनके लिए दी जाने वाली सुविधाओं का सवाल हो या विदेशों में राजनयिकों की नियुक्ति का सवाल हो, तराई में म)ेशी आन्दोलन का सवाल हो या घरेलू एवं विदेश नीति सम्बन्धी अन्य फैसले हों, सात-पार्टियों की सत्तारूढ़ अन्तरिम सरकार ने हमेशा ही उनकी बातें अनसुनी की हैं।

यही नहीं नेपाली सरकार ने अपने सैन्य और सुरक्षा अधिकारियों को भारत भेजकर नेपाल में उठने वाले जन-उभारों से निपटने के लिए अपने प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की है। भारतीय विदेश मन्त्रालय ने गृह मन्त्रालय को 19 मार्च 2007 को सूचित किया कि सी.आर.पी.एफ. की माउण्ट आबू स्थित आन्तरिक सुरक्षा अकादमी में नेपाली पुलिस, सेना और वरिष्ठ सुरक्षा अधिकारियों को तरह-तरह के प्रशिक्षण दिये जा रहे हैं।

आखिर ऐसी क्या बात है कि सभी पार्टियों में सै)ान्तिक सहमति के बावजूद नेपाल अभी तक गणतन्त्र नहीं बन सका? क्या कारण है कि माओवादी क्रान्तिकारियों को 22 नवम्बर 2007 को संविधान सभा चुनाव का बहिष्कार करना पड़ा? क्यों उन्हें संविधान सभा चुनाव को आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत करवाने के लिए पूरा जोर लगाना पड़ा?

इन सभी प्रश्नों का एक ही कारण है कि नेपाल की यथास्थितिवादी-प्रतिक्रियावादी ताकतें मजबूत होती गयी हें और उसी अनुपात में क्रान्तिकारी ताकतें कमजोर हो रही हैं। जहाँ एक तरु नेपाली क्रान्तिकारी अपने को 'बहुदलीय लोकतान्त्रिक प्रतिस्प)ाf' से बाँधे हुए हैं वहीं प्रतिक्रियावादी ताकतें छल-कपट, झूठ-फरेब और षड्यन्त्रों द्वारा अपने को मजबूत करने में लगी हुई हैं।

दुनिया भर की तरक्कीपसन्द और जनवादपसन्द जनता की जिज्ञासा है कि नेपाली क्रान्ति का क्या भविष्य होगा? और नेपाल के क्रान्तिकारी अपनी गलतियों से सीखते हुए कैसे आगे बढ़ेंगे? क्या नेपाली क्रान्ति प्रतिक्रियावादियों की हिंसा द्वारा खून में डूबो दी जायेगी या तमाम बाधाओं से लड़ते हुए अपने कार्यभारों को पूरा करेगी। आने वाले कुछ महीने नेपाल की जनता के दूरगामी भविष्य को निर्धारित करने वाली ऐतिहासिक घटनाओं और उथल पुथल का गवाह बनेंगे।

अमरीका के बारे में उपराष्ट्रपति का नजरिया

''पश्चिम एशिया में सुरक्षा सरोकार'' विषय पर एक सम्मेलन में बोलते हुए उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी ने इराक के बारे में अमरीकी नीति की तीखी आलोचना की। उन्होंने कहा–

''अमरीका 2003 के बसन्त की तरह द्धजब उसने इराक पर हमला किया थाऋ अब एकमात्र वैश्विक महाशक्ति नहीं रह गया है। एक तरुापन, निर्माण के नाम पर तबाही और आत्मरक्षा के नाम पर पहले हमला करने की अमरीकी नीतियाँ गलत साबित हो चुकी हैं। इराक में अमरीका अव्यवस्था फैलाने वाली गैर-राज्य ताकतों के हाथों में खेल रहा है–उसकी नीतियों ने आतंकवाद को बढ़ावा दिया है। अरब देशों और मुस्लिम देशों में अमरीका भयानक रूप से बदनाम हो चुका है और उसके मन्सूबों को सन्देह की नजर से देखा जाता है।

''इराक यु) में हो रहा खर्च भी चिन्ता का विषय है और इसको लेकर अमरीकी 'राष्ट्रीय सुरक्षा प्रतिष्ठान' में उत्पन्न मतभेद भी सार्वजनिक हो चुके हैं।''

इरान के खिलाफ सैन्य कार्रवाई की ''प्रभाविता और उसके व्यापक परिणामों के बारे में सन्देहों'' का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि ''इरान के दोषी होने के बारे में निर्णायक सबूत का अभाव अमरीकी हमले को रोकने वाला एक प्रमुख कारक है।''

ये विचार खाड़ी क्षेत्र में भारत के राजदूत रह चुके और वहाँ की जमीनी हकीकत से वाकिफ व्यक्ति के विचार हैं जो अब सत्ता के शीर्ष पद पर आसीन हैं। लेकिन क्या शासक वर्गों की वर्तमान नीतियों से इसका कोई मेल है? उपराष्ट्रपति को अमरीकापरस्ती की भाषा अपनाने में अभी शायद थोड़ा वक्त लगेगा।

कविता

१८५७ : सामान की तलाश

❑ असद जैदी

१८५७ की लड़ाइयाँ जो बहुत दूर की लड़ाइयाँ थीं
आज बहुत पास की लड़ाइयाँ हैं

ग्लानि और अपरा। के इस दौर में जब
हर ग लती अपनी ही की हुई लगती है
सुनाई दे जाते हैं गश्दर के नगाड़े और
एक ठेठ हिन्दुस्तानी शोरग ुल
भयभीत दलालों और मुख़बिरों की फुसफुसाहटें
पाला बदलने को तैयार ठिकानेदारों की बेचैन चहलक दमी

हो सकता है वह कालान्तर में लिखे उपन्यासों और
व्यावसायिक सिनेमा का असर हो

पर यह उन १५० करोड़ रुपयों का शोर नहीं
जो भारत सरकार ने 'आज ादी की पहली लड़ाई' के
१५० साल बीत जाने का जश्न मनाने के लिए मंजूर किए हैं।
उस प्र ाानमन्त्री के क लम से जो आज ादी की हर लड़ाई पर
शर्मिन्दा है और माफ ी माँगता है पूरी दुनिया में
जो एक बेहतर ग ुलामी के राष्ट्रीय लक्ष्य के लिए कुछ भी
कुरबान करने को तैयार है

यह उस सत्ताावन की याद है जिसे
पोंछ डाला था एक अखिल भारतीय भद्रलोक ने
अपनी अपनी गद्दियों पर बैठे बंकिमों और अमीचन्दों और हरिश्चन्द्रों
और उनके वंशजों ने
जो खुद एक बेहतर गुलामी से ज़्यादा कुछ नहीं चाहते थे
जिस सन सत्ताावन के लिए सिवा वित ष्णा या मौन के कुछ नहीं था
मूलशंकारों, शिवप्रसादों, नरेन्द्रनाथों, ईश्वरचन्द्रों, सैयद अहमदों,
प्रतापनारायणों, मैथिलीशरणों और रामचन्द्रों के मन में
और हिन्दी के भद्र साहित्य में जिसकी पहली याद
सत्तार अस्सी साल के बाद सुभद्रा ही को आई

यह उस सिलसिले की याद है जिसे
जिला रहे हैं अब १५० साल बाद आत्महत्या करते हुए
इस ज मीन के किसान और बुनकर
जिन्हें बलवाई भी कहना मुश्किल है और जो चले जा रहे हैं
राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय भुखमरी के सूचकांकों की खुराक बनते हुए
विशेष आर्थिक क्षेत्रों से निकलकर सामूहिक कब्रों और मरघटों की तरफ
एक उदास, मटमैले और अराजक जुलूस की तरह
किसने कर दिया है उन्हें इतना अकेला?

१८५७ में मैला-कुचैलापन
आम इन्सान की शायद नियति थी–सभी को मान्य
आज वह भयंकर अपरा। है

लड़ाइयाँ अ ूरी रह जाती हैं अक्सर, बाद में पूरी होने के लिए–
किसी और युग में किन्ही और हथियारों से
कई दफ े तो वे मैले-कुचैले मुर्दे ही उठकर लड़ने लगते हैं फिर से
जीवितों को ललकारते हुए जो उनसे भी ज यादा म त हैं
पूछते हैं उनकी टुकड़ी और रिसाले और सरदार का नाम
या हमदर्द समझकर बताने लगते हैं अब मैं नजफ गढ़ की तरफ जाता हूँ
या ठिठककर पूछने लगते हैं बख्तावरपुर का रास्ता

१८५७ के म तक कहते हैं भूल जाओ हमारे सामन्ती नेताओं को
कि किन जागीरों की वापसी के लिए वे लड़ते थे
और हम उसके लिए कैसे मरते थे

कुछ अपनी बताओ

क्या अब दुनिया में कहीं भी नहीं है अन्याय
या तुम्हें ही नहीं सूझता उसका कोई उपाय

द्ध'उद्भावना 'सेसाभारऋ

कविता पर टिप्पणी

खोये हुए सामान के डेढ़ सौ वर्ष

❑ मंगलेश डबराल

अठारह सौ सत्तावन को शोध और विद्वता की भाषा में कई तरह से पढ़ा-लिखा जा रहा है। पहले स्वाधीनता संग्राम की डेढ़ सौवीं सालगिरह उत्तर भारतीय अकादमिक और वैचारिक क्षेत्र में किसी पुनराविष्कार से कम नहीं है। अपने-अपने नजज़रिये से उसका भाष्य करने वाले कई पक्ष हैं : राष्ट्रीय मार्क्सवादी, लोकवादी, उत्तर आधुनिक, सबाल्टर्नवादी और दलित। विचार के मैदान में गड़े हुए कई खेमे और उनकी अपनी-अपनी 'पोजज़ीशंस'। गोष्ठियों, बहसों, सेमिनारों की गहमागहमी। 1857 के खून की विरासत हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी में देखने की भी एक बहस। बीच में कहीं विलियम डैलरिम्पल के औपन्यासिक इतिहास द्ध!ऋ 'द लास्ट मुगज़्ल' द्वारा पेशेवर इतिहासकारों को दी गयी चुनौती। एक पोजज़ीशन भारत सरकार की भी है जिसने 150 साल का जश्न मनाने के लिए 150 करोड़ रुपये का तोह्रष्ठा दे दिया है जिसे सरकारी स्तर पर जुलूस वगैज़रह निकालकर खर्च करने का एक 'ठेठ हिन्दुस्तानी शोरगज़ुल' है, जो शायद 1957 में 1857 के सौ साल पूरे होने पर भी न हुआ होगा जब पी सी जोशी द्वारा सम्पादित किताब 'रिबैलियन 1857' पहली बार प्रकाशित हुई थी और उस पहली लड़ाई के 'तथ्यों का सबसे बड़ा भण्डार' मानी जाती है। हिन्दी में एक उल्लेखनीय घटना यह है कि पत्र-पत्रिकाओं में कुछ शोधपरक लेखों के अलावा 'उद्भावना', 'नया पथ' और 'मीडिया' पत्रिकाओं के विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। इनमें कष्ठी वैचारिक और ऐतिहासिक-दस्तावेजी सामग्री दी गयी है और वे किताबों की तरह संग्रहणीय हैं।

लेकिन 1857 को कविता की भाषा में भी लिखा जा सकता है। इसका एक उदाहरण असर जैज़्दी की कविता '1857 : सामान की तालाश' है जो अजेय कुमार के सम्पादन में निकलने वाली 'उद्भावना' के विशेषांक में प्रकाशित हुई है। इसके अतिथि सम्पादक नवजागरण के अध्येता डॉ. प्रदीप सक्सेना हैं। इक्यावन पंक्तियों की यह कविता आजज़दी की लड़ाई के जिस सामान की बेचैनी भरी तलाश करती है वह इतिहास यानी 1857 से लेकर हमारे वर्तमान तक में बिखरा पड़ा है। जिसे पहचानने की जज़रूरत के अहसास ने ही शायद इस कविता को सम्भव किया है। वह आज की आँखों से अतीत को देखती है और अतीत की आवाजज़ें में आज को सुनने की कोशिश करती है। सुन्दर सुगठित शिल्प में लिखी गयी इन इक्यावन पंक्तियों में असद 150 वर्षों के बीच जो आवाजाही करते हैं वह परेशानकुन भी है और बहुत मानीख़ेजज़ भी। यह आवाजाही एक कठिन काम है लेकिन असद उसे पहले की दो पंक्तियों से ही सम्भव कर लेते हैं।

'१८५७ की लड़ाइयाँ जो बहुत दूर की लड़ाइयाँ थीं आज बहुत पास की लड़ाइयाँ हैं'

यह एक प्रभावशाली शुरुआत है। अच्छी कविता को कुछ इसी तरह शुरू होना चाहिए। कई समयों में एक साथ उपस्थित रहते हुए। यह दो प्रारम्भिक पंक्तियों में ही अपना मन्तव्य प्रकट कर देती है लेकिन उसे पूरा नहीं करती और आने वाली अप्रत्याशितता को बनाये रखती है। अच्छी रचना की एक पहचान यह भी मानी जाती है कि उसकी अन्तर्वस्तु को एक वाक्य में बताया जाना सम्भव होना चाहिए। शायद ये दो पंक्तियाँ इसी तरह का बीज-वाक्य हैं। आगे की पंक्तियों में कवि मौजूदा समय की व्याख्या करते हुए 'ग्लानि और अपराध के इस दौर' में 'हर गज़्लती अपनी ही की हुई' मानता है द्धयह मुक्तिबोध की कविता 'अन्धेरे में' जैसा स्वर है : 'मुझसे ही हुई है कोई भूल/मानो मेरे ही कारण लगा वह क"ज़्यूं' की याद दिलाता हुआऋ और गज़्दर के नगाड़ों के बीच 'भयभीत दलालों और मुखबिरों की नुस्कुसाहटें/पाला बदलने को तैयार ठिकानेदारो की बेचैन चहलकज़्दमी' सुनता हैं। यह अतीत नहीं, मौजूदा हिन्दुस्तान है जिसमें दलाल मुख़बिर-ठिकानेदार डेढ़ सौ साल बाद भी जीवित और सक्रिय है। यह दरअसल एक संकेत है कि ईस्ट इंडिया ने भारत का जो उपनिवेशीकरण शुरू किया था वह खत्म नहीं हुआ है, बल्कि अब दूसरे वैश्वीकरण जैसे रूपों में सक्रिय है जिन्हें

पाला बदलने वाले ठिकानेदारों का वैसा ही समर्थन हासिल है।

आगे चलकर यह कविता फिर एक मोड़ लेती है और सरकार द्वारा 1857 का जश्न मनाने के लिए मंजूर किये गये 150 करोड़ रुपयों के हवाले से उस प्रधानमन्त्री की आलोचना करती है जिसका राष्ट्रीय लक्ष्य आजज़दी की बजाय एक 'बेहतर गज़ुलामी' की माँग है। इन पंक्तियों को पढ़ते हुए आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण, बाजज़रवाद और बहुराष्ट्रीय निगमों की लूट का पूरा दुश्चक्र सामने झलक उठता है और प्रधानमन्त्री के वे उद्गार भी याद आते हैं जो वे ब्रिटिश राज की प्रशंसा के कहते रहे हैं द्धमसलन यह कि 'अंग्रेजज़ें ने हमें बहुत कुछ दिया, ज्ञान और सभ्यता का पाठ पढ़ाया ..."ऋ

नए साम्राज्य के नियन्ताओं के आगे गिड़गिड़ाती हुई भारतीय राज्यसत्ता के जिज़्क्र के बाद यह कविता फिर एक उड़ान लेती है और 1857 को लेकर उस बहस में पहुँच जाती है जो नवजागरण, हिन्दी समाज और 'हिन्दी जाति' की सबसे विवादग्रस्त गुत्थी है और एक विद्वान के शब्दों में, हजज़ारों साल पुरानी 'सिन्धु सभ्यता की लिपि जैसी अबूझ' बनी हुई है, क्योंकि तमाम कसरतों के बावजूद उत्तर भारत के सांस्कृतिक भद्रलोक का 1857 से कोई सम्बन्ध अभी तक परिभाषित नहीं हो पाया है। इस हिस्से में असद बंगाल और हिन्दी-उर्दू क्षेत्र के नवजागरणवादी दिग्गजों, आर्यसमाज के अग्रदूत दयानन्द सरस्वती द्धमूल नाम मूलशंकरऋ, विवेकानन्द, सर सैयद, भारतेन्दु और रामचन्द्र शुक्ल तक को नाम से पुकारते हुए प्रश्नों के घेरे में लाते हैं। ये प्रश्न नये नहीं हैं लेकिन असद समाज सुधारों, आधुनिक विचारों और उस संस्कृतिवाद को पहली बार एक व्यापक दायरे में देखते हैं जिसका राजनैतिक चरित्र जनवादी नहीं, अभिजनवादी था। आखिर इस विडम्बना का क्या कारण है कि लोक और जनपदीय रचनाओं को छोड़कर नागरी हिन्दी में 1857 को दर्ज करने वाली सिर्फ़ एक कविता द्धसुभद्राकुमारी चौहान की 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी'ऋ के अलावा कुछ नहीं मिलता और क्या यह नवजागरण भी—भारत सरकार की तरह—एक बेहतर गज़ुलामी, अंग्रेजों से एक बेहतर व्यवहार की माँग करता नहीं था?

लेकिन कविता यहाँ खत्म नहीं होती, बल्कि अतीत की बहस से वर्तमान की ओर आती है : 'यह उस सिलसिले की याद है जिसे/जिला रहे हैं अब 150 साल बाद आत्महत्या करते हुए/इस जमीन के किसान और बुनकर/जिन्हें बलवाई भी कहना मुश्किल है और जो चले जा रहे हैं/राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय भुखमरी के सूचकांकों की खुराक बनते हुए/विशेष आर्थिक क्षेत्रों से निकलकर सामूहिक कज़्रों और मरघटों की तरुज़' इन किसानों-बुनकरों को 'उदास, मटमैले और अराजक जुलूस' कहा गया है, जो निश्चय ही 1857 के आक्रामक, बगज़वती और हथियारबन्द जुलूस की तरह नहीं है लेकिन 1857 से उसका एक गहरा सम्बन्ध है। अगर हम यह याद रखें कि 1857 को 'किसान विद्रोह' भी कहा जाता है क्योंकि उसमें सिपाहियों के अलावा हिन्दू-मुस्लिम-सिख किसान भी लड़े थे और वे सिपाही भी किसानों के ही बेटे थे तो 1857 के वर्तमान अर्थ स्पष्ट हो उठेंगे। शायद यही एक कविता के लिखे जाने का कारण है और उद्देश्य भी। शायद यह हिन्दी की पहली कविता है जो प्रथम स्वाधीनता संग्राम और उसकी वैचारिक-अकादमिक बहस को इतनी खूबी के साथ आज के दारुण भावनात्मक बोध से जोड़ती है और 150 साल पहले मारे गये या फाँसी पर चढ़ाये गये किसानों और उनके सिपाही बेटों की प्रतिच्छवि को इस देश में आत्महत्या करने वाले, राष्ट्रीय विकास के नाम पर बहिष्कृत-विस्थापित होते किसानों में देख लेती है। यही इस कविता का अनोखापन और इसकी ताकज़्त है। एक गष्ठर्कज़ यह जज़रूर है कि '1857 में मैला-कुचैलापन/आम इन्सान की शायद नियति थी—सभी को मान्य/आज वह भयंकर अपराध है।' 1857 में मैले-कुचैले लोगों, किसानों, उनके सिपाही बेटों, तवायफ़ें, सवर्णों-दलितों, मंगल पांडे और गंगू मेहतरों ने एक लूटेरी विदेशी कम्पनी से मोर्चा लिया था लेकिन आज यह लड़ाई भी नहीं रह गयी है, क्योंकि बाजज़रवाद, निजीकरण और बहुराष्ट्रीय निगमों ने किस तरह 'मैले-कुचैले' लोगों को अवाँछनीय और समाज-विरोधी कज़्रार दिया है, इसे हम ट्रेड यूनियनों के दमन और महाराष्ट्र, आन्ध्र, पंजाब और केरल के किसानों की हालत से जान सकते हैं।

'सामान की तलाश' इस हिस्से तक कहीं सीधे तो कहीं सांकेतिक ढंग से रखे गये तथ्यों पर बुनी गयी है और एक हद तक विश्लेषणपरक है। अब वह काव्यात्मक रेटरिक में प्रवेश करती है जो काफ़ी बेचैनी भरा है। वह आवाहन-परक हो सकता था, लेकिन एक बौ)िक आवेग उसे संयत बनाये रखता है। कविता में रेटरिक का उपयोग कुछ पुराने किज़्स्म का और मुश्किल काम माना जाता है जिसे हिन्दी कविता में नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह और आलोकधन्वा जैसे कवि प्रभावशाली तरीकेज़ से कर पाये हैं। असद ने अपनी

कविताओं में रेटरिक का इस्तेमाल प्रायः नहीं किया है, लेकिन यहाँ वे उसे एक विलक्षण संयम के साथ बरतते हैं। यह उदात्त नहीं, बल्कि एक मननशील रेटरिक है। नागार्जुन, शमशेर और आलोक से सर्वथा अलग। दरअसल यह अंश पूरा पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि वह एक मुकम्मिल कविता की तरह है :

'लड़ाइयाँ अ ूरी रह जाती हैं अक्सर/
बाद में पूरी होने के लिए
किसी और युग में किन्ही और हथियारों से
कई दफ े तो वे मैले-कुचैले मुर्दे ही/
उठकर लड़ने लगते हैं फिर से
जीवितों को ललकारते हुए/
जो उनसे भी ज यादा म त हैं
पूछते हैं उनकी टुकड़ी और रिसाले/
और सरदार का नाम
या हमदर्द समझकर बताने लगते हैं/
अब मैं नजफ गढ़ की तरफ जाता हूँ
या ठिठककर पूछने लगते हैं/
बख़्तावरपुर का रास्ता

१८५७ के म तक कहते हैं भूल जाओ/
हमारे सामन्ती नेताओं को
कि किन जागीरों की वापसी के लिए वे लड़ते थे
और हम उनके लिए कैसे मरते थे
कुछ अपनी बताओ'

अठारह सौ सत्तावन के मृतकों के सवालों का भी एक ऐतिहासिक सन्दर्भ मौजूद है और वह यह है कि अनेक इतिहासकारों, नवजागरण के अध्येताओं और जवाहरलाल नेहरू तक की नजऱ में 1857 सामन्तवाद के ढहते हुए कंगूरों को बचाने की लड़ाई, एक तरह से सामन्तवाद की आख़िरी अंगड़ाई, थी जो किल रही, और इस किलता से ही नये विचारों और आधुनिक सभ्यता का पथ प्रशस्त हुआ। मार्क्सवादी विचारक भी लम्बे समय तक इस धारणा से ग्रस्त रहे। असद यहाँ इतिहास के विभ्रमों और बहसों को परे ढकेलते हुए द्धइसलिए भी कि वे 'बलवाई' अब जीवित नहीं हैंऋ अतीत के प्रेतों की तरुष्ठ से एक सीधा-सच्चा और नैतिक सवाल हमारी जीवित 'मनुष्यता' से पूछते हैं :

'क्या अब दुनिया में कहीं भी नहीं है अन्याय
या तुम्हें ही नहीं सूझता उसका कोई उपाय।'

ये कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं और सहसा रघुवीर सहाय की कविताओं की याद दिलाती हैं और हम चौंक उठते हैं। 1857 की लड़ाई ख़त्म हो चुकी है, नवजागरण के अग्रदूत विदा हो गये हैं, भारत सरकार के 150 करोड़ रुपयों का शोर थम गया है, सिर्फ़ एक सवाल रह गया है : क्या अब अन्याय भी मिट चुका है? यह वही 'अन्याय' है जो हमारे आधुनिक लोकतन्त्र के सबसे बड़े कवि रघुवीर सहाय की कविता में 'पूरे देश की देह खाता रहता है', और पिछले कुछ वर्षों से रघुवीर सहाय के दौर से भी ज्ज़्यादा भयावह शक्लों में दिखने लगा है। असद रघुवीर सहाय के पास इसलिए जाते हैं कि वे हमारे समय के शोषण और अत्याचार की ओर इशारा करने वाले सबसे विश्वसनीय कवि हैं। यह रघुवीर सहाय से एक अनिवार्य संवाद है।

और अठारह सौ सत्तावन का वह सामान क्या है जिसकी तलाश यह कविता कुछ हताशा के साथ करती है? इसे जानने के लिए जज़्रा 1857 की कुछ विशेषताओं पर गज़ैर करें : 1857 औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ सबसे बड़ा और चरम विद्रोह था जिसमें कज़्रीब दो लाख सिपाही शरीक हुए। कफ़ज़ी तो सवर्ण हिन्दू थे, लेकिन नीची जाति कहाये जाने वाले अर्थात दलितों, और सिखों और मुसलमानों की तादाद भी कम न थी, यहाँ तक कि कुछ ईसाई भी थे द्धइतिहासकार रुद्रांशु मुखर्जी 1089 ग़ज़ैजियों की एक इन्फ़ैंट्री में 335 हिन्दू, 237 क्षत्रिय, 231 दलित, 200 मुसलमान, 75 सिख और 12 ईसाई गिनाते हैंऋ। अर्थात यह सभी धर्मों और जातियों का साझा संघर्ष था। कई इतिहासकारों का मानना है कि 1857 के दौर में हिन्दू-मुस्लिम एकता अपने चरम पर थी जिसके बाद अंग्रेजज़ें ने सम्प्रदायों को राजनीतिक हथियारों की तरह इस्तेमाल करना शुरू किया और हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का, 'लूट डालो और राज करो' नीति का जन्म हुआ। दरअसल 1857 से पहले हिन्दू-मुस्लिम अस्मिताओं के सवाल सामाजिक आचरणों तक ही सीमित थे। प्रचलित धारणाओं के उलट, 1857 में दलित भी बगज़वत में शामिल थे, जिसका एक प्रमाण कानपुर के एक सिविल सर्जन द्वारा ाँसी पर चढ़ाये जाने से पहले खींची गयी गंगू मेहतर की तस्वीर में मिलता है। ऐसा भी नहीं है इस विद्रोह के मूल कारण धार्मिक थे द्धजैसा कि अंग्रेजज़ें ने प्रचारित किया थाऋ। वे कम्पनी की लूट से जुड़े हुए थे। अगर 1857 का विद्रोह गाय और सुअर की चर्बी के कारतूसों से निकला होता तो विद्रोही सिपाही उन्हीं कारतूसों का अपने दाँतों से काटकर

इस्तेमाल नहीं करते। इस तथ्य की बाबत पंडित सुन्दरलाल समेत कई विद्वानों ने लिखा है और फिर ऐसा कैसे हुआ कि करीब एक लाख विद्रोही सिपाहियों ने, जिनमें अधिसंख्य हिन्दू थे, दिल्ली पुहँचकर एक लाचार बादशाह बहादुरशाह जफ़र को अपना नेतृत्व सौंप दिया? असल में यही वह सामान है, वह हिन्दू-मुसलमान का अद्‌भुत मेल, ब्राह्मणों से शूद्रों और ईसाइयों तक आजज़दी के लिए संघर्ष करने की वह भावना, जिसे किल और गज़रत कर दिया गया और जिसे हम आज तक हासिल नहीं कर पाये हैं।

एक बार शमशेर बहादुर सिंह ने इन पंक्तियों के लेखक से कहा था कि 'कविता तथ्य नहीं होती पर वह कभी तथ्य का निषेध नहीं करती।' 'सामान की तलाश' इस अर्थ में तथ्यों की कविता है ह्यहालाँकि उसका इतिहास नहींह्न और वह 'मैले-कुचैले मुर्दों' के मुँह से भी सवाल पूछने के बावजूद अपनी अन्तर्वस्तु की तथ्यपरकता को नहीं छोड़ती। इतिहासकार इतिहास से शुरू करके इतिहास पर ही समाप्त करता है, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, दार्शनिक और वैज्ञानिक भी ऐसा ही कुछ करते हैं, लेकिन वर्षों पुराने अन्यायों और संघर्षों को आज और अभी की लड़ाइयों की तरह देखने का काम शायद कवि ही कर सकता है क्योंकि उसे बहुत कुछ अपने माध्यम के कारण कई वक्ज़्तों में एक साथ रहने की छूट मिली हुई है। असद की कविता का मन्तव्य यही है कि आज के अन्यायों को पहचाने और उनका प्रतिकार किये बगज़ैर हम 1857 को नहीं समझ सकते और उसे समझने का बहुत अर्थ भी नहीं है और आज के अन्याय वही हैं जो पुराने, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लुटेरों के समय में थे जिनका भयावह विस्तार हम मौजूदा वैश्वीकरण, अमरीकी साम्राज्य के बहुराष्ट्रीय निगमों, बाजज़री और साम्प्रदायिक हिंसा और विशेष आर्थिक क्षेत्र ह्यसेजज़्ह्न के दुश्चक्रों में देख सकते हैं और हमारे सत्ताधारी और राजनीतिक तन्त्र जिसके सामने घुटने टेक रहे हैं। 'सामान की तलाश' असद की सर्वश्रेष्ठ कविता भले ही न हो, वह आजज़दी की समग्र बहस से एक मानवीय, भावनात्मक, तात्कालिक और नैतिक हस्तक्षेप है जिसने एक उत्कृष्ट कवि की कारीगरी के चलते एक विलक्षण बौ)िक आवेग की कविता का रूप ले लिया है और जिसे 1857 के दस्तावेजों के साथ-साथ बार-बार पढ़ा जा सकता है।

सम्भव है कि विद्वान, हिन्दी जाति की अवधारणा और भारतेन्दु मंडल के समर्थक अध्येता, या ुले और अम्बेडकर की कुछ मान्यताओं के आधार पर 1857 को दंगा या बलवा मानने वाले लोग इस कविता से असहमत हों। तब भी इसका महत्त्व कम नहीं हो जाता क्योंकि कई इतिहासकार कहते हैं, 1857 के हजज़ारों उर्दू-ज़बानी दस्तावेजज़ अभी पढ़े ही नहीं गये हैं, उसके कई पहलू अभी सुलझाये जाने बाकी हैं और फिर यह भी है कि इस कविता का उद्देश्य नवजागरण के तथ्यों-मिथकों या 1857 का भाष्य करने की बजाय इस सचाई को रेखांकित करना है कि उस वक्ज़्त के शहीदों और आज के भीषण कज़्जर्ज़ और लूट से आजिजज़ आकर आत्महत्या करते किसानों-बुनकरों के बीच कोई अदृश्य, लेकिन गहरा बिरादराना है। वे वही लोग हैं और वैसे ही शोषण के शिकार हैं। 1857 तक कम्पनी की लूटपाट और वर्तमान में वैश्वीकरण, साम्प्रदायिकता, और विशेष आर्थिक क्षेत्रों से हो रही तबाही एक ही दुर्भाग्य के दो रूप हैं। अगर हम इसे पहचान पायें तभी शायद आज के नव-औपनिवेशीकरण से लड़ सकते हैं, भले ही इस लड़ाई के हथियार 'कुछ और' हों। इस अर्थ में 'सामान की तलाश' असद की कविता से ज्यादा हम सबकी कविता है।

... ... हम यह कहना चाहते हैं कि यु) छिड़ा हुआ है कि यह यु) तब तक चलता रहेगा, जब तक कि शक्तिशाली व्यक्ति भारतीय जनता और श्रमिकों की आय के साधानों पर अपना एकाधिाकार जमाये रखेंगे। चाहे ऐसे व्यक्ति अंग्रेज पूँजीपति, अंग्रेज शासक या सर्वथाभारतीय ही हों। उन्होंने आपस में मिलकर एक लूट जारी कर रखी है। यदि शु) भारतीय पूँजीपतियों के द्वारा ही निर्धानों का खून चूसा जा रहा हो तब भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

–भगतसिंह

निठारी काण्ड

क्या इस व्यवस्था में गरीबों को न्याय मिल सकता है?

❑ अरविन्द

निठारी काण्ड के खुलासे के एक साल पहले ही हत्याओं के सन्देह में मोनिन्दर सिंह पन्धोर को थाने में हाजिर होना पड़ा था। उस समय वह अढ़ाई लाख रुपये की रिश्वत देकर बच निकला था। घटना के प्रकाश में आने के बाद उत्तर प्रदेश की सरकार पहले तो टालमटोल करती रही लेकिन बाद में जनता के भारी दबाव के आगे मजबूर होकर उसे सी. बी. आई. को जाँच सौंपनी पड़ी। पीड़ित परिवारों को लाख दो लाख रुपये देकर जनता के गुस्से को शान्त करने की कोशिश की गयी।

सी. बी. आई. जाँच शुरू होने के कुछ दिनों बाद से ही इस बात की कवायद शुरू हो गयी कि मोनिन्दर सिंह पन्धेर को कैसे बचाया जाये। ऊषा ठाकुर नाम की जिस महिला ने सबसे पहले इस संगठित अपराध का पर्फ़ाश किया था, उसे जान से मारने की धमकियाँ दी जाने लगीं। जाँच के दौरान सी.बी.आई. ने पन्धेर को क्लीन चिट दे दी और सारा दोष उसके नौकर सुरेन्द्र कोली के सिर मँढ़ दिया गया। पुलिस की जाँच टीम के सामने इकबाले जुर्म के बावजूद सी.बी.आई. ने अपनी किसी भी चार्ज शीट में पन्धेर को बलात्कार और हत्या का दोषी नहीं ठहराया। पायल हत्याकाण्ड में पन्धेर ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए पुलिस को बताया था कि उसी ने कोली को पायल की हत्या करने का निर्देश दिया था क्योंकि वह उसे ब्लैकमेल करने लगी थी। दोनों अभियुक्तों की निशानदेही पर ही पुलिस ने 15 खोपड़ियाँ, हड्डियाँ और चाकू भी बरामद किये थे लेकिन इसके बावजूद सी.बी.आई. ने पायल मामले में चार्जशीट दायर करते समय उसके इकबाले जुर्म की कापी तक लगाना जरूरी नहीं समझा।

पन्धेर अपनी पूरी चल-अचल सम्पत्ति, बैंक खाते और लॉकर अपने बेटे के हवाले कर चुका है जिसको उसके संचालन और खरीद-बिक्री तक के अधिकार हैं।

सी. बी. आई. के रवैये से हताश होकर निठारी काण्ड की एक शिकार पिंकी के पिता जतीन सरकार ने दो अन्य पीड़ित परिवारों के साथ मिलकर पन्धेर को आरोपमुक्त किये जाने के खिलाफ़ स्पेशल सी. बी. आई. जज सपना मिश्रा की अदालत में 28 अप्रैल 2007 को दोबारा जाँच के लिए याचिका दायर की। 1 सितम्बर को जतीन सरकार अपने पैतृक जिले मुर्शिदाबाद (प. बंगाल) में रहस्मय परिस्थितियों में नदी में डूबकर मर गये। जतीन सरकार इस मामले में तत्कालीन सी. ओ. दिनेश यादव और और पन्धेर के खिलाफ़ मुख्य गवाह थे। उनकी पत्नी वन्दना सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में एक याचिका दायर करके आरोप लगाया है कि सी. बी. आई. पन्धेर का बचाव कर रही है। उसके पति के पास पन्धेर के इकबाले जुर्म से सम्बन्धित बयान थे इसलिए उन्हें मरवा दिया गया। सी. बी. आई. के अधिकारियों के धमकी भरे फ़ोन उसके पति के पास आये थे कि वह पन्धेर के खिलाफ़ अपनी शिकायत की पैरवी ना करे। 2 नवम्बर को सुप्रीम कोर्ट ने सी. बी. आई. के खिलाफ़ नोटिस जारी किया और उसके दो दिन बाद प. बंगाल की पुलिस ने सी. बी. आई. डायरेक्टर विजय शंकर और अन्य दो अधिकारियों के खिलाफ़ एफ़.आई.आर. दर्ज की।

इस मामले में दूसरे प्रमुख गवाह पायल के पिता नन्दलाल हैं। नन्दलाल द्वारा विशेष सी. बी. आई. अदालत में दायर याचिका के आधार पर अदालत ने पन्धेर के खिलाफ़ हत्या, बलात्कार, सबूत नष्ट करने और आपराधिक षडयन्त्र के आरोप निर्धारित किये थे। नन्दलाल ने अपनी एक एफ़. आई. आर. में यह बताया था कि पन्धेर ने दिनेश यादव को पाँच-पाँच सौ के नोटों की गड्डी उसके सामने ही दी थी। उसने यह भी कहा था कि पायल की हत्या में प्रयुक्त चाकू उसके सामने ही बरामद हुआ था। लेकिन 18 नवम्बर को अदालत के सामने वह अपने दोनों बयानों से मुकर गया। अखबार यह तो नहीं बताते कि किन दबावों में उसने ऐसा किया लेकिन जतीन सरकार की हत्या की घटना के बाद यह अनुमान लगाना बहुत कठिन नहीं है। हताशा में वन्दना सरकार ने पायल के पिता नन्दलाल के खिलाफ़ भी बयान

बदलने को लेकर एक केस दायर किया है। एक और गवाह श्रीमति सोनिया हैं जिनका बेटा राजेन्द्र निठारी काण्ड का शिकार हुआ था। उनका आरोप है कि पन्धेर के वकील खालिद खाँ के साथ मिलकर झब्बू, अनिल हालदार, सुनील विश्वास, पी. सी. दीक्षित आदि उसे गवाही बदलने और उनके मनमाफिक ब्यान देने के लिए धमका रहे हैं। ये लोग उसे जानमाल की धमकी दे रहे हैं। सोनिया ने एक एफ. आई. आर. दर्ज करवाई है कि यदि उसे सुरक्षा नहीं दी गयी तो वह कोर्ट में बयान नहीं दे पायेगी। इलाहाबाद हाईकोर्ट ने खालिद खाँ की गिर"तारी पर रोक लगाने की याचिका को खारिज कर दिया और सोनिया को पुलिस सुरक्षा देने के निर्देश दिये हैं।

उधर सुरेन्द्र कोली को जेल में धमकियाँ दी जा रही हैं कि अगर उसने मुँह खोला तो उसे जान से मार दिया जायेगा। 24 अक्टूबर को कोली ने रोते हुए सी. बी. आई. की विशेष अदालत को बताया कि कविता हत्याकाण्ड के अभियुक्त रविन्द्र प्रधान ने जेल में उसे यह धमकी दी। अदालत से सुरक्षा की गुहार लगाते हुए सुरेन्द्र ने बताया कि ''पन्धेर निठारी के अपने घर में अपने दोस्तों के साथ रंगरेलियाँ मनाया करता था और जो कुछ भी हुआ वह उसी ने किया है। मैं और मेरा परिवार पन्धेर से खतरा महसूस करते हैं, हमें उससे सुरक्षा प्रदान की जाये''।

ये तथ्य खुद सारी कहानी कह देते हैं। ऐसे में निठारी काण्ड का क्या फैसला होगा, इसके बारे में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सारे गवाहों की जान खतरे में है, जो कुछ ले-दे कर नहीं मानेंगे, उनका मुँह हमेशा के लिए बन्द कर दिया जायेगा। प्रशासनिक और न्याय व्यवस्था जो पन्धेर जैसे बड़े लोगों के हक में खड़ी दिखायी देती है, इन हत्याओं और अन्याय को खामोशी से देखती रहेगी।

सब जानते हैं कि इस देश में गरीब आदमी कैसे रोज-रोज अपमान सहकर जीता है। बराबर का नागरिक तो क्या उसे एक इन्सान तक नहीं समझा जाता और उनके साथ गुलामों जैसा व्यवहार किया जाता है। बहुतेरे लोग आज भी अछूत समझे जाते हैं। आज भी इस देश में लाखों लोगों को सिर पर मैला ढोना पड़ता है, साहबों की गालियाँ सुननी पड़ती हैं। पुलिस वाले गरीबों को चोर और बदमाश समझते हैं और उन्हीं की तलाशी लेते हैं। उन्हें मन्दिरों में घुसने से रोका जाता है। हत्या और बलात्कार जैसे मामलों में भी जब वे फरियाद के लिए थाने में जाते हैं तो उनकी एफ. आई. आर. तक दर्ज नहीं की जाती।

जब तक वे चुपचाप इस अन्याय को सहते रहते हैं तब तक तो सब ठीक चलता रहता है, लेकिन सिर उठाते ही उनका सिर कुचल दिया जाता है। खेतों से चारा लाने और यहाँ तक कि खेत में पखाना करने तक पर पाबन्दियाँ लगायी जाती हैं। अव्वल तो उनकी हैसियत ही ऐसी नहीं होती कि अपने ऊपर होने वाले अत्याचार के खिलाफ वे अदालत में जा सकें लेकिन अगर कोई जाने की जुर्रत भी करे तो उसे डरा-धमकाकर या कुछ पैसे फेंककर उसका मुँह बन्द कर दिया जाता है। जाहिरा शेख द्धदेश-विदेश 2ऋ के साथ जो हुआ वह देश की न्याय व्यवस्था का आइना है। वह एक आम कहानी है जो गरीबों के साथ होने वाले हर ऐसे मामले में दोहरायी जाती है। उनको गाड़ियों से कुचलने वाले अमीरजादे पैसे के दम पर बाइज्जत बरी हो जाते हैं। फैक्ट्रियों में बेहद अमानवीय परिस्थितियों में काम करते हुए दुर्घटना में मारे जाने पर पूँजीपति कुछ मुआवजा देकर मामले को दबा देतें हैं। ज्यादातर मामलों में तो वे मुआवजा भी नहीं देते।

इस व्यवस्था में गरीब आदमी को न्याय नहीं मिल सकता। निठारी काण्ड में सामने आ रहे तथ्य ही इसे स्पष्ट करे देने के लिए काफी हैं। इस मामले में एक बार फिर न्याय की धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं।

ऐसे में हताश होकर गरीब लोग अगर कानून को अपने हाथ में ले लेते हैं और पन्धेर को पीटते हैं तो इसमें उनका क्या दोष? दोषी तो यह पुलिस, सी. बी. आई., कोर्ट, अदालतें, और यह पूरी व्यवस्था है जिसके संरक्षण में पन्धेर जैसे जधन्य और नृशंस अपराधी कानून को अपने जूते की नोक पर रखते हैं और उन्ही के साये तले पलते-बढ़ते हैं। क्या गरीब आदमी को इस व्यवस्था में न्याय मिल सकता है?

सुखिया सब संसार है, खाए अरु सोए,
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोए।

-कबीर

क्वात्रोची को सी.बी.आई. ने कैसे बचाया?

❑ विनोद

बोफोर्स तोप काण्ड के मुख्य अभियुक्त क्वात्रोची के प्रत्यर्पण का मुकदमा अर्जेण्टीना की निचली अदालत में हारने के बाद भारत सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में अपील करने के बजाय अपनी प्रत्यर्पण की अर्जी ही वापस ले ली। इसके साथ ही इस इटलीवासी दलाल को सजा दिलाने की रही-सही सम्भावनाएँ भी खत्म हो गयीं।

क्वात्रोची के छूट जाने के बाद अब सरकार के विभिन्न विभाग बेहयाई के साथ झूठ-सच बोलकर अपने को बचाने की कोशिश कर रहे हैं। सी. बी. आई. के डायरेक्टर विजय शंकर ने तो यहाँ तक कह डाला कि उन्हें अर्जेण्टीना के सुप्रीम कोर्ट में अपील किये जाने या उस अपील को वापस लिए जाने के बारे में कोई जानकारी ही नहीं है। लेकिन पूरे मामले पर सरसरी तौर पर भी निगाह डाली जाये तो यह बड़ी आसानी से समझा जा सकता है कि क्वात्रोची को सजा दिलवाने में दरअसल किसी की दिलचस्पी नहीं रही है—न सरकार की और न सी. बी. आई. की। नमूने के तौर पर सी. बी. आई. की वेबसाइट पर उपलब्ध क्वात्रोची का हुलिया देखिये—

लम्बाई	–	पता नहीं
आँखों का रंग	–	पता नहीं
बालों का रंग	–	पता नहीं
पहचान-चिह्न	–	पता नहीं
विशेषताएँ	–	पता नहीं

क्वात्रोची जैसे कुख्यात और कई बार टीवी पर दिखाये जा चुके अपराधी का हुलिया तक बयान कर पाने में सी. बी. आई. की असमर्थता ही इस मामले को लेकर सी. बी. आई. की गम्भीरता की पोल खोल देती है।

इण्टरपोल द्वारा जारी जिस रेडकार्नर नोटिस के आधार पर अर्जेण्टीना में क्वात्रोची को गिर"तार किया गया, वह 17 नवरी 1997 में जारी हुआ था। क्वात्रोची के खिलाफ भ्रष्टाचार निरोधक कानून के तहत दिल्ली की विशेष अदालत में 25 मई 1997 को एक गैर जमानती वारण्ट जारी किया था। लेकिन नवरी 2004 में दिल्ली हाईकोर्ट के जज जे. डी. कपूर ने भ्रष्टाचार के आरोपों को खारिज करते हुए उस मामले के तमाम अभियुक्तों को बरी कर दिया था। हिन्दुजा बन्धुओं के खिलाफ अलग से चल रहे मुकदमे में भी हाईकोर्ट के जज आर. एस. सोढ़ी की अदालत ने मई 2005 में सी. बी. आई. की याचिका खारिज कर दी थी।

इसके बाद सी. बी. आई. ने इस फैसले के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में अपील करने की कोई जरूरत नहीं समझी थी। इसलिए अर्जेण्टीना में क्वात्रोची की गिर"तारी के बाद सी. बी. आई. को आनन-फानन में एक नया गैर-जमानती वारण्ट जारी करवाना पड़ा।

24 नवरी 2007 को जारी किये गये इस गैर-जमानती वारण्ट में क्वात्रोची को क्यों गिर"तार किया जाये और क्यों भारत सरकार उसका प्रत्यर्पण करवाना चाहती है, इसके कारण तक स्पष्ट नहीं थे। 8 जून 2007 को भारत की प्रत्यर्पण याचिका को खारिज करते हुए जज मारियो हारिची दोई ने बताया कि प्रत्यर्पण के लिए यह ''बुनियादी जानकारी'' देना जरूरी था जो उन्हें नहीं दी गयी। क्वात्रोची के वकील फीलैण्ड द्वारा अदालत में पेश किये गये दस्तावेज भी सी. बी. आई. की भूमिका का पर्दाफाश कर देते हैं। इन दस्तावेजों में सी. बी. आई. के अभियोजन के निदेशक एस. के. शर्मा की यह राय भी शामिल थी कि पूरी जाँच के बाद बोफोर्स मामले में क्वात्रोची के खिलाफ ''कोई मामला नहीं बनता''। एस. के शर्मा उस समय अदालत में ही मौजूद थे। फीलैण्ड ने अदालत को बताया कि ''सी. बी. आई. की यह राय 2005 से ही थी। तभी उसने दिल्ली हाई कोर्ट में जज सोढ़ी द्वारा हिन्दुजा बन्धुओं के खिलाफ मुकदमा खारिज किये जाने के बाद इस निर्णय को सुप्रीम कोर्ट में चुनौती नहीं दी।''

जाहिर है कि अर्जेण्टीना से क्वात्रोची के प्रत्यर्पण के मुकदमे में खुद सी. बी. आई. ने 'अपनी हार' का मार्ग प्रशस्त

किया। सी. बी. आई. के अधिकारियों और कानूनी परामर्शदाताओं की 'राय' क्वात्रोची के वकील को लीक कर दी गयी। क्वात्रोची को सजा दिलवाने के अपने प्रयासों में 'सी. बी. आई. न तो गम्भीर थी, न ही ईमानदार।'

सतही तौर पर देखने से जो मामले सी. बी. आई. या भारत सरकार के बड़े अधिकारियों की लापरवाही या अक्षमता मालूम पड़ते हैं, वे दरअसल एक सोची-समझी कारवाई का हिस्सा होते हैं। क्वात्रोची के मामले में इस तरह की एक के बाद एक लापरवाहियों का सिलसिला यही बताता है कि सरकार या सी. बी. आई. की उसे गिर"तार करने या सजा दिलवाने में कोई दिलचस्पी ही नहीं थी।

1993 में क्वात्रोची के सन्दिग्ध परिस्थितियों में भारत छोड़ देने के 4 साल बाद 17 ?रवरी 1997 को उसके खिलाफ रेड कार्नर नोटिस जारी हुआ। 2003 में मलेशिया सरकार से भी क्वात्रोची का प्रत्यर्पण करवाने में भारत सरकार अस्फल रही क्योंकि क्वात्रोची के खिलाफ दायर अपनी प्रत्यर्पण की याचिका में उसने न तो कोई स्पष्ट आरोप लगाये थे और न ही अदालत के माँगने पर वह कोई ठोस सबूत पेश कर पायी।

हद तो तब हो गयी जब जनवरी 2006 में सरकार की सहमति से सी. बी. आई. ने क्वात्रोची के लन्दन स्थित दोनों बैंक खातों पर लगी रोक हटाते हुए उसे 24 करोड़ रुपये का नये साल का तोहफा दिया। सुप्रीम कोर्ट में इसकी स्फाई देते हुए सी. बी. आई. ने इसके दो कारण बताये थे–इस बात का कोई सबूत नहीं है कि क्वात्रोची के इन खातों में मौजूद पैसा वही है, जो बोफोर्स की दलाली में मिला था। दूसरा, निकट भविष्य में इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि क्वात्रोची कोर्ट में हाजिर होगा और उसके ऊपर मुकदमे में कोई ?ैसला हो सकेगा। अपराधी के साथ हमदर्दी की दूसरी ऐसी मिसाल मिलना मुश्किल है।

अर्जेण्टीना की निचली अदालत में प्रत्यर्पण याचिका के खारिज हो जाने के बाद सी. बी. आई. ने भारत सरकार से ऊपरी अदालत में अपील के लिये कहा। इस पर भारत सरकार के कार्मिक और प्रशिक्षण मन्त्रालय ने कानून मन्त्रालय से राय माँगी। मन्त्रालय के परामर्शदाता वकील ओ. पी वर्मा ने तीन दलीलों के आधार पर याचिका वापस लेने की स्िफारिश की। पहला, भारत और अर्जेण्टीना के कानूनों में कोई तादातम्य नहीं है। दूसरा, 2003 में मलेशिया से क्वात्रोची का प्रत्यर्पण करवाने में सी. बी. आई. अस्फल रही थी। तीसरा, प्रत्यर्पण का केस लड़ने में बहुत ज्यादा खर्च आता है। कानून मन्त्रालय के इस सुझाव के आधार पर कार्मिक और प्रशिक्षण मन्त्रालय ने राजदूत प्रथमेश रथ को याचिका वापस लेने के निर्देश भेज दिये। इनकी एक प्रति सी. बी. आई. को भी भेजी गयी थी।

भारत के राजदूत प्रथमेश रथ ने अर्जेण्टीना के अधिकारियों से बात की तो उन्होंने बताया कि अर्जेण्टीना के कानून के मुताबिक निचली अदालत के ?ैसले के खिलाफ स्वत: ही ऊपरी अदालत में अपील हो जाती है, जब तक याचिकाकर्त्ता खुद अपनी अपील वापस न ले ले। अत: अपील न हो इसके लिए भारत सरकार को प्रत्यर्पण की अपनी याचिका वापस लेनी होगी और ऐसी स्थिति में उनको मुकदमें का खर्च भी वहन करना पड़ेगा। राजदूत ने इस पर फिर भारत सरकार से राय माँगी।

सी. बी. आई. के निदेशक विजय शंकर की राय थी कि चूँकि यह मामला इण्टरपोल की रेड कॉर्नर लिस्ट में है इसलिए क्वात्रोची के प्रत्यर्पण की याचिका पूरी तरह वापस लेना बहुत मुश्किल होगा। लेकिन इसके बावजूद कि अपील वापस ले लेने पर आगे क्वात्रोची के प्रत्यर्पण का भारत सरकार के पास कोई तर्क नहीं रह जायेगा और सरकार को अपील वापस लेने से कोई आर्थिक ?ायदा भी नहीं होगा, कानून मन्त्रालय अपनी पुरानी राय पर ही कायम रहा। भारत सरकार के निर्देश पर राजदूत प्रथमेश रथ ने अर्जेण्टीना के अधिकारियों को सूचित कर दिया कि भारत सरकार अपनी प्रत्यर्पण की याचिका वापस ले रही है।

15 अगस्त को अर्जेण्टीना के सरकारी वकील ने इसकी पुष्टि की। इसके बाद क्वात्रोची का पासपोर्ट लौटा दिया गया और उसे इटली जाने की इजाजत दे दी गयी।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सी. बी. आई. को अपील की भी सूचना थी और उसके वापस लिये जाने की भी–यानि खुद को निर्दोष साबित करने के लिए विजय शंकर बहाने बना रहे हैं। सी. बी. आई. कम से कम 28 जुलाई तक तो यह जान ही गयी थी कि अपील हो चुकी है क्योंकि यह बात उसने अपनी स्टेटस रिपोर्ट में दिल्ली के चीफ मेट्रोपोलिटन जज को बतायी थी। अपनी इज्जत बचाने के लिए विजय शंकर ने कहा

कि सी. बी. आई. क्वात्रोची के प्रत्यर्पण के लिए कोशिशें जारी रखेगी और रेड कॉर्नर नोटिस वापस नहीं लिया जायेगा।

लेकिन सच्चाई यह है कि क्वात्रोची को सजा दिलवाने की बची-खुची सम्भावनाएँ भी अब खत्म हो चुकी हैं क्योंकि भारत सरकार ने खुद ही प्रत्यर्पण की याचिका वापस ली है। इण्टरपोल के मुखिया रोनाल्ड कीथ नोबल ने इसका खुलासा करते हुए एक साक्षात्कार में बताया कि पहले मलेशिया और अब अर्जेण्टीना से क्वात्रोची का प्रत्यर्पण करवाने में अस्फल रहने के बाद भारत सरकार के लिए क्वात्रोची को पकड़ पाना अब बहुत मुश्किल होगा। यह मामला एक अपवाद है। अभी तक ऐसे 2-3 मामले ही सामने आये हैं जब प्रत्यर्पण के मामले को दो देशों ने खारिज कर दिया हो। कोई अन्य देश 'जब क्वात्रोची का रेड कॉर्नर नोटिस देखेगा तो कहेगा–अर्जेण्टीना और मलेशिया ने उसे छोड़ दिया...यदि मैं सम्बन्धित देश की जगह होता तो 20 साल पुराना केस है, इसी आधार पर इसे आगे नहीं बढ़ाता।'

क्वात्रोची का केश सी. बी. आई. और भारत सरकार के असली चरित्र को उजागर कर देता है। **जब अपरा ी खुद बड़े पूँजीपति, दलाल, नौकरशाह या नेता हो या उनके संरक्षण में हो या उसकी पहुँच सत्ताा के शीर्ष तक हो तो सी. बी. आई. उसको बचाने वाली एजेंसी बन जाती है। किसी मामले को ठण्डे बस्ते में डालने और पूरे मामले को कोर्ट-कचहरी के चक्करों में उलझाकर खत्म कर देने में सी. बी. आई. को विशेष महारत हासिल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सी. बी. आई. का मकसद किसी उच्च कोटि के अपरा ी को सजा दिलवाना नहीं, बल्कि बड़े अपराियों को जनता के हत्थे चढ़ने से बचाना है। वह तस्करी, हत्या, बलात्कार, भ्रष्टाचार जैसे अपरा ों के बावजूद समाज में इज्जतदार नागरिक बने रहने और सत्ताा सुख भोगते रहने में सफेदपोश अपराियों की मदद करती है।**

इस देश में पूँजीपतियों, नेताओं, नौकरशाही और अपराियों के गठजोड़ का मिला-जुला राज है। इस व्यवस्था में सिर्फ छोटे अपराियों को सजा होती है और बड़े अपरा ी इज्जतदार बने रहते हैं। इसलिए इस व्यवस्था के कायम रहते भ्रष्टाचार मिटाने के सारे चोंचले व्यर्थ हैं। भ्रष्टाचार मिटाने की पहली शर्त है इस व्यवस्था का खात्मा।

बस्तर से कविता

❑ शाकिर अली

(१)

इनकाउण्टर

डेढ़ सौ बचे, बैगा जनजाति
को बचाने के लिए,
डेढ़ करोड़ स्वीऔत किये गये हैं,
और डेढ़ हजार करोड़
इनकाउण्टर के लिए रख दिये गये हैं?

(२)

बहस

आज बस्तर के हालात पर, कोई कुछ नहीं बोलता
न बस में न ट्रेन में,
न होटल में और न पान की दुकान में,
सब चुप रहते हैं, डर के मारे!
वैसे भी
युद्ध भूमि में बहस नहीं चलती,
गोली चलती है!!

(३)

बस्तर गोली काण्ड

आज के चालिस-बयालिस साल पहले,
बोई गयी बारूद की फसल
अब लहलहाने लगी है!

द्धपहल–86 से साभारऋ

स्वास्थ्य सेवाओं में देशी-विदेशी पूँजी की दखल

❑ नवनीत

विदेशी बुड्ढों की देखरेख : सेवा की आड़ में मुनाफे का धन्धा

हमारे देश में बढ़ते व्यवसाय और रोजगार के नये आयामों कीशृंखला में एक कड़ी और जुड़ने वाली है–विदेशी बुजुर्गों की सेवा।

अब तक यहाँ के लोग भारत में ही रहकर कम्प्यूटर के जरिये विदेशियों की नौकरी द्धआउट सोर्सिंग के कामऋ करते थे, लेकिन अब उन्हें अपने ही घर में आये विदेशियों का नौकर बनना भी मयस्सर होगा। एक नये तरह के पेशे की आउट सोर्सिंग।

विदेशों में वृ)ाश्रम चलाने वाली संस्थाएँ अपने मुनफे के सस्ते व बेहतर उपाय खोजते हुए भारत के श्रम-बाजार में आ खड़ी हुई हैं जो उनके लिए पहले ही कफी सस्ता और लुभावना था।

मानवीय और संवेदनशील भारतीयों में सेवा-टहल की 'गहरी भावना' को देखते हुए विदेशी बाजारों में पहले से ही उनकी कफी माँग रही है–नौकर-नौकरानियों के रूप में।

भारतीयों की इसी मानवीयता और सस्ती सेवा के लालच में विदेशों की वृ)ाश्रम कम्पनियों ने वहाँ के अवकाश प्राप्त और रोगी ब्बे-ब्बुयिों को भारत जाने के लिए प्रेरित किया है।

यूरोपीय देशों में चरम पूँजीवाद के कारण वहाँ एकल परिवारों का ही चलन है। लाभ-लोभ की मानसिकता के कारण वहाँ के नागरिकों का अपने बूढ़े माता-पिता के प्रति बिल्कुल मशीनी नजरिया होता है। अपने वृ) माता-पिता की सेवा करने की जगह वे उनके मरने का इन्तजार करते हैं। बुढ़ापे में सन्तान का सुख देने तथा उनके खालीपन को अपने प्यार से भरने के बजाय वे काँपते शरीर को सहारा देने के लिए उनके हाथों में चाँदी की छड़ी थमा कर अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री कर लेते हैं। द्धवैसे भारत में भी बुजर्गों की हालत इससे अच्छी नहीं है।ऋ

यह तो सभी जानते हैं कि भारतीय रुपये की कीमत विदेशी पौंड या डॉलर की तुलना में बहुत कम है। इसलिए वहाँ की सैकड़ों की तनख्वाह ही यहाँ रुपये में हजारों की हो जायेगी।

भारत में बहुत कम वेतन पर इन वृ)ों की सेवा करने वाले लोग मिल जायेंगे। साथ ही भारत में इनके रहने का खर्च, दवा-इलाज, खाने-पीने तथा रोजमर्रा की जरूरी चीजों पर भी बहुत कम खर्च आयेगा। भारतीय नागरिक बहुत ही कम वेतन पर इनके कमरों की स्फाई, खाना पकाने, बर्तन-कपड़े धोने, नहलाने-धुलाने और थूक-बलगम, पखाना-पेशाब आदि सफ करने को राजी हो जायेंगे। **हमारे शासक और उनके चाटुकार वैश्वीकरण की चाहे जितनी चिल्ल-पों मचा लें, विदेशियों की निगाह में भारतीय नागरिकों की हैसियत नौकर-चाकर से ज्यादा नहीं है। हमारे अभिजात वर्गीय शासकों का भी अपने देश की जनता के प्रति ऐसा ही नजरिया है।**

बुजुर्गों की सेवा करना अच्छी बात है, बल्कि बहुत ही अच्छी बात है, शास्त्रा सम्मत है। लेकिन जिस देश के बुजुर्गों का जीवन जीते जी नरक बना दिया जाता है, उन्हें घिसट-घिसट कर जीने और भीख माँगने के लिए छोड़ दिया जाता है, उस देश के शासकों का विदेशी बुजुर्गों के प्रति यह सेवाभाव किस प्रेरणा से उपजी है? गौर से देखेंगे तो इस मानवीयता के पीछे डॉलर और पौण्ड की ओर जीभ लपलपाता एक अश्लील चेहरा नजर आयेगा–हमारे सफेद-पोश शासकों और पूँजीपतियों का असली बीभत्स चेहरा।

गरीबों के लिए स्वास्थ्य बीमा का ढोंग

एक खबर के अनुसार सरकार गरीबी रेखा के नीचे आने वाले छः करोड़ परिवारों के तीस करोड़ लोगों को इलाज के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करने जा रही है।

केन्द्र और राज्य सरकारें मिलकर असंगठित क्षेत्र के गरीबी रेखा से नीचे आने वाले लोगों का स्वास्थ्य बीमा करायेगी। जिसके तहत परिवार के मुखिया को साल में 30 रुपये देकर तीस हजार तक का इलाज कराने की सुविधा होगी। जरूरत पड़ने पर यह राशि बीमा कम्पनी उपलब्ध करायेगी जिसका सालाना प्रीमियम 750 रुपये होगा। इस 750 रुपये में से 75 ीसदी केन्द्र सरकार और 25 ीसदी राज्य सरकार वहन करेगी। पॉलिसी धारक को मात्र 30 रुपये पंजीकरण व पंजीकरण के नवीनीकरण पर ही खर्च करने होंगे।

सरकार की नीयत क्या है?

यह बात सुनने में बड़ी भली मालूम होती है कि सरकार गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों को बहुत कम खर्च करके चिकित्सा सेवाएँ प्रदान करने की योजना बना रही है। मगर इलाज मुहैया कराने की योजना का विश्लेषण करने से सरकार की नीयत का पर्दाफाश हो जाता है।

इस बीमा योजना के लिये सरकार बीमा कम्पनियों को अनुबन्धित करके उन्हें भारी रकम प्रीमीयम के रूप में देगी। ऐसे में बीमा कम्पनियाँ पहले एजेन्टों के माध्यम से दर-दर भटक कर एक-एक ग्राहक ढूँढती थी, अब उन्हें बैठे-बिठाये करोड़ों ग्राहक मिल जायेंगे। इससे बीमा कम्पनियों का मुनाफा रातें-रात छलांग लगा जायेगा। ये बीमा कम्पनियाँ इलाज के लिए निजी अस्पतालों का चुनाव करेंगी। इन अस्पतालों में जाकर मरीज अपना इलाज करायेंगे और बीमा कम्पनियों द्वारा दिये गये स्मार्ट-कार्ड से भुगतान करेंगे। ये वही अस्पताल हैं जो मरीजों को लुभाने के लिए बोर्ड, होर्डिंग, अखबारों में विज्ञापन आदि का सहारा लेते हैं। यदि इतने से भी मरीजों की संख्या नहीं बढ़ती तो ये जगह-जगह पर फी-कैम्प लगाते हैं और भविष्य में इलाज के लिए अस्पताल में बुलाकर अपना ग्राहक द्धमरीजऋ सुनिश्चित करते हैं। मगर ये अस्पताल इतने से सन्तोष नहीं करते कि मरीजों की निरन्तरता से इनका मुनाफा बढ़ता रहे। इसके लिए ये और नीचे गिरकर गाँवों में कार्यरत झोला छाप डाक्टरों से प्रति मरीज कमीशन तय करके साँठ-गाँठ करते रहते हैं। अन्य प्रतिद्वन्दी अस्पतालों से आगे बढ़ाने के लिए ये किसी भी सीमा तक गिरने को तत्पर रहते है। इन अस्पतालों में 3 से 4 दिन भर्ती रहने का औसत खर्च 20-30 हजार रुपये होता है।

ऐसे में यह स्पष्ट है कि सरकार की इलाज प्रदान करने की यह योजना भारी संख्या में मरीजों की भीड़ इन अस्पतालों में ठेल देगी तथा इसका खर्च सरकार वहन करेगी। यह तो जग जाहिर है कि सरकार इस खर्च की भरपाई किसी न किसी रूप में आम जनता से ही करेंगी। एक बात और, ये निजी अस्पताल और बीमा कम्पनियाँ गरीबों के साथ क्या सलूक करेंगी, उनका कैसा इलाज करेंगी, यह भी अनुमान लगाना कठिन नहीं। दिल्ली सरकार ने अपोलो और एस्कोर्ट जैसे अस्पतालों को जमीन देते समय शर्त रखी थी कि वे कुछ गरीबों का मु"त इलाज करेंगे। लेकिन इन अस्पतालों ने बार-बार चेतावनी देने के बावजूद गरीबों को अपने पास नहीं ट्कने दिया। बीमा कम्पनियाँ भी बीमारों से द"तर का चक्कर लगवाते-लगवाते उन्हें स्वर्ग पहुँचा देंगी।

सरकार को आम जनता के हित में क्या करना चाहिए?

स्वास्थ्य सेवाओं से जर्जर इस देश की सरकार को मूलभूत ढ़ाँचे को मजबूत करना चाहिए। उसे भारी संख्या में मेडिकल कालेज और अस्पताल खोलना चाहिए ताकि गरीब विद्यार्थी शिक्षा पाकर डाक्टर बनें और समाज की सेवा करें। अधिक संख्या में अस्पताल व स्वास्थ्य केन्द्र खोले जायें, जिससे दूर-दराज के क्षेत्रों में उच्च कोटि की चिकित्सा सेवा प्रदान की जा सके। इन सबके निर्माण के दौरान अधिक संख्या में लोगों को रोजगार प्राप्त होता तथा अधिक संख्या में डॉक्टरों को भी रोजगार मिलता द्धज्ञात हो कि भारत में डॉक्टर भी बेरोजगारी की मार झेलते हैंऋ। लाखों की संख्या में नर्सों, पैरामेडीकल स्टफ, ार्मेसिस्ट, चपरासी, चौकीदार, हेल्थवर्कर, ड्राईवर आदि की भर्ती होती। इससे बेहतर चिकित्सा सेवाओं के साथ-साथ लाखों लोगों को रोजगार भी प्राप्त होता। लेकिन सरकार ऐसा नहीं करेगी क्योंकि वह ऐसा करना नहीं चाहती। **सब के लिए स्वास्थ्य सेवाओं की गारण्टी की अपनी जिम्मेदारी से मुँह मोड़कर, सरकारी अस्पतालों और मुफ्त इलाज की व्यवस्था को मटियामेट करके अब सरकार बीमा कम्पनियों और निजी अस्पतालों के आर्थिक स्वास्थ्य को सु ाार रही है।**

स्वास्थ्य बीमा सरकार द्वारा जनता के साथ की जाने वाली ोखा ाड़ी के सिवा और कुछ नहीं। जनता को इलाज से महरूम करने वाले, बीमा योजना का ढोंग कर रहे हैं, और कुछ नहीं।

बड़े-बड़े अस्पतालों में फिरंगियों की तीमारदारी होगी, भारत के मरीज विदेशी कम्पनियों के लिए चूहे-बिल्ली बनाये जायेंगे।

भारी संख्या में विदेशी मरीज भारत में अपना इलाज कराने के लिये आने लगे हैं। यह मेडिकल ट्यूरिज्म से एक कदम आगे बढ़ा हुआ कदम है क्योंकि पहले विदेशी मरीज सस्ते इलाज के लोभ में अपनी पहल पर यहाँ आते थे। लेकिन अब विदेशी मेडिकल इन्श्योरेंस कम्पनियाँ सुनियोजित रूप से भारत में आये विदेशी बीमा धारकों का इलाज करायेंगी।

दुनिया भर में मेडिकल इन्श्योरेंस का कारोबार करने वाली ब्ल्यू क्रॉस, ब्ल्यू शील्ड, सिग्ना इंश्योरेंस आदि कम्पनियाँ भारत में अपने पैर जमाने की तैयारी में लगी हैं। ये सभी कम्पनियाँ विदेशों में ग्राहकों का बीमा करती हैं और बिमार पड़ने पर उनके इलाज का खर्चा उठाती हैं। बीमा कम्पनी द्वारा चुने गये अस्पतालों में ही उनका इलाज होता है जिसका भुगतान बीमा कम्पनी करती है। विदेशी अस्पतालों में उन्हें डॉलर में भुगतान करना पड़ता है जो कम्पनी के लिए महँगा सौदा है।

अपना खर्च धटाने के लिए बीमा कम्पनियाँ अब अपने मरीजों का इलाज भारत के बड़े-बड़े अस्पतालों में करवायेंगी। भारत में ऐसे ढेर सारे अस्पताल हैं जो विश्व स्तर की सुविधाएँ प्रदान करते हैं तथा जो जटिल से जटिल शल्य चिकित्सा, जैसे–हृदय की वाल्व या अन्य अंगों को बदलना, कुल्हे या घुटने के जोड़ बदलना, आदि करने में सक्षम हैं। भारत में हृदय की धमनी की सर्जरी के लिए 6,000–8,000 डॉलर तक का खर्च आता है जबकि पश्चिमी देशों की तुलना में यह खर्च नगण्य है। इसी तरह कूल्हे का जोड़ बदलने में 6,500 डॉलर तथा घुटने बदलने में भी 6,500 डॉलर का खर्च आता है। विदेशी बीमा कम्पनियाँ अपने ग्राहक मरीजों को हवाई जहाज से भारत भेजेंगी। वे अस्पताल के पाँच सितारा कमरों में रहेंगे। उनकी देख रेख करने वाले रिश्तेदार भी पाँच सितारा होटल में रहेंगे और साथ ही वे भारत भ्रमण भी कर सकेंगे। इतना खर्च करने के बावजूद कम्पनी का कुल खर्च विदेशी इलाज की तुलना में कम ही आयेगा।

भारत के उन निजी अस्पतालों में विदेशी मरीजों का इलाज होगा, जिन्हें खड़ा करने के लिए सरकार द्वारा कौड़ियो के मोल सरकारी जमीन और कई तरह के टैक्स में रियायत दी गई थी। इन अस्पतालों ने सरकार से वायदा किया था कि वे 25 ीसदी गरीब मरीजों का इलाज रिआयती दर पर करेंगे। लेकिन आज इनकी बदनीयती जग जाहिर है। इन अस्पतालों में इलाज तो क्या, गरीबों को इनके पास ट्कने भी नहीं दिया जाता। इलाज की रकम जमा न करने पर ये मरीज को भी रिश्तेदारों को नहीं देते।

जिस देश में हर साल लाखों बच्चे उल्टी–दस्त जैसी साधारण बिमारियों से मर जाते हैं, गर्भवती महिलाएँ खून की कमी या प्रसव के दौरान अधिक खून निकलने जैसी साधारण बिमारियों से मर जाती हैं, उस देश की सरकार यदि विदेशियों को बेहतरीन इलाज की सुविधा देती है तो क्या यह इलाज से वंचित देश के करोड़ों बीमार लोगों के प्रति क्रूरतम मजाक नहीं?

लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं है। भारत के गरीब रोगियों को विलायती चूहे द्धगिनीपिगऋ में बदलने का धन्धा भी यहाँ तेजी से ल्ल ल्ल रहा है। विदेशी दवा कम्पनियाँ भारत के गरीब और अनपढ़ रोगियों पर अपनी दवाओं का क्लिनिकल परीक्षण करती हैं जिसमें भारतीय कम्पनियाँ उनका सहयोग करती हैं। इस धन्धे में अभी 1200 करोड़ का सालाना कारोबार है जो 15 ीसदी की दर से बढ़ रहा है। मुनाफे की दर का तो कोई हिसाब ही नहीं है क्योंकि जिन कामों पर विदेशों में कई हजार डॉलर खर्च होते हैं वे यहाँ कुछ एक डॉलरों में हो जाते हैं। साथ में मरीजों को होने वाले नुकसान या उनकी मौत के लिए भी उन्हें कोई मुआवजा नहीं देना पड़ता। यहाँ उन्हें किसी तरह की कानूनी अड़चनों का भी सामना नहीं करना पड़ता जबकि अपने देश के कुत्ते–बिल्लियों पर परीक्षण करने के लिए भी उन्हें कठी हिदायतों का पालन करना पड़ता है।

एक तरफ विदेशियों का हमारे देश में बढ़िया से बढ़िया इलाज और दूसरी तरफ अपने देश के मरीजों का चूहा-बिल्ली-कुत्तो की तरह नयी दवाओं को आजमाने के लिये इस्तेमाल, किसी भी स्वाभिमानी और संवेदनशील देशवासी के लिए क्षोभ से भर देने वाली बातें हैं। लेकिन डॉलर के भूखे हमारे देश के सरमायादार और उनकी सरकार किसी भी हद तक नीचे गिरने को तैयार हैं और उन्हें किसी का डर-भय भी नहीं है। आउट-सोर्सिंग के नाम पर उठाये जा रहे ये कदम उनकी इसी बेखौफ लूट-खसोट और निर्ममता की ताजा मिशाल हैं जिसे विकास का नाम दिया जा रहा है।

वेनेजुएला : साम्राजवाद के खिलाफ बढ़ते कदम

❑ अजय कुमार

हिन्दी के लोकल अखबारों में वेनेजुएला से सम्बन्धित खबरें शायद ही कभी देखने को मिलती हों। लेकिन लगभग सभी अखबारों ने वेनेजुएला के राष्ट ्रपति ह्यूगो शावेज की जनमत संग्रह में पराजय का समाचार प्रमुखता से छापा। ह्यूगो शावेज राष्ट्रपति के अधिकार बढ़ाने सहित संविधान में 69 संशोधनों के लिए जनादेश चाहते थे। अमरीका और उसके समर्थक देशों के साथ-साथ वेनेजुएला के अमरीका परस्त धड़े ने भी इस जनमत संग्रह के बारे में यह दुष्प्रचार किया था कि शावेज तानाशाह बनना चाहते हैं और चुनाव आयोग में अपने समर्थकों की बदौलत वे इस जनमत संग्रह में गड़बड़ी करके जीत हासिल कर लेंगे। ध्यान रहे कि शावेज के नौ साल के कार्यकाल में जितने भी जनमत संग्रह हुए उन सब में शावेज को शानदार जीत मिली थी। पश्चिमी मीडिया के तमाम दुष्प्रचार और धाँधली के बेबुनियाद आरोपों के बीच ऐसी सम्भावना भी थी कि अमरीका और सी. आई. ए. इस जनमत संग्रह को रुकवाने के लिए वेनेजुएला में कुछ गड़बड़ी भी करा सकते हैं। इस आशंका को और अधिक बल तब मिला जब वेनेजुएला के विपक्षी नेताओं ने कहा कि यदि शावेज समर्थक चुनाव अधिकारियों ने कोई गड़बड़ी की तो वे पूरे देश में विरोध प्रदर्शन करेंगे और इस जनमत संग्रह को सिर्फ अपनी जीत की सूरत में ही स्वीकार करेंगे। जनमत संग्रह को रोकने के लिए अमरीकी हस्तक्षेप की सम्भावना और सी. आई. ए. की कोशिशों को देखते हुए शावेज को यह धमकी देनी पड़ी कि वेनेजुएला अपने यहाँ से अमरीका को तेल की सप्लाई बन्द कर देगा।

इस जनमत संग्रह के माध्यम से शावेज संविधान में जिन प्रमुख संशोधनों की माँग कर रहे थे, वे हैं–

- केन्द्रीय बैंक की स्वायत्तता खत्म करके विदेशी मुद्रा भण्डार पर राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष नियन्त्रण कायम करना।
- सामूहिक सम्पत्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति के ऊपर वरीयता को संविधान के उद्देश्य में शामिल करना।
- काम के घंटे प्रतिदिन 8 घंटे से घटाकर 6 घंटे करना।
- कुछ स्वरोजगार कर्मचारियों के लिए सामाजिक सुरक्षा में वृ)।
- किसी व्यक्ति के दो बार से अधिक राष्ट्रपति चुने जाने पर लगी रोक हटाना और राष्ट्रपति के कार्यकाल को 6 से बढ़ाकर 7 वर्ष करना।
- राष्ट्रपति को अध्यादेश के माध्यम से नये प्रान्तों व जिलों के सृजन और अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार देना।
- मतदान की आयु 18 वर्ष से घटाकर 16 वर्ष करना।
- सुरक्षा बलों को किसी व्यक्ति को बिना किसी आरोप के गिर"तार करने का अधिकार देना तथा प्राकृतिक आपदा एवं राष्ट्रीय आपातकाल के समय मीडिया पर सेंसरशिप लगाने का रास्ता सफ करना।

शावेज के लिए जनमत संग्रह का यह मुकाबला काफी कड़ा था। फिर भी वे एक ग्रीसदी से भी कम वोटों के मामूली अन्तर से ही पराजित हुए। उनके पक्ष में 49.3 प्रतिशत तथा विरोध में 50.7 प्रतिशत वोट पड़े। परिणाम को सिर्फ अपनी जीत की सूरत में ही स्वीकार करने की बात कह चुके शावेज के विपक्षी नेता और उनके समर्थक परिणाम घोषित होते ही जीत के जश्न में डूब गये। दूसरी ओर शावेज ने इस नतीजे को जनता की जीत बताया और अपनी आत्मालोचना करते हुए कहा कि ''वेनेजुएला का लोकतन्त्र परिपक्व हो रहा है।'' शावेज और उनके विपक्षियों के स्वर अलग-अलग थे। विपक्षियों में जीत का दर्प था। लेकिन शावेज ने अपनी हार से मायूस न होते हुए उसे खुले दिल से स्वीकार किया। उन्होंने कहा ''मैं अपने विपक्षियों को जीत की बधाई देता हूँ, हम अभी यह नहीं कर पाये।'' जनमत संग्रह के दो दिन बाद ही शावेज ने कहा कि सुधारों पर बहस अभी समाप्त नहीं हुई है और उनके विरोधी एक और जनमत संग्रह के लिए तैयार रहें। शावेज की हार उनकी बोलीवेरियाई क्रान्ति के मार्ग में एक सामयिक अवरोध और उनके समर्थकों के लिए उदासी का कारण है। लेकिन इससे उनके विरोधियों, खासतौर पर अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश को थोड़ी खुशी जरूर मयस्सर हुई होगी।

एक समय था जब वेनेजुएला के शासक अमरीका के विश्वस्त और कादार सहयोगी हुआ करते थे, आज यह देश पूरी दुनिया में अमरीकी साम्राज्यवाद की नीतियों के एक प्रबल विरोधी के रूप में जाना जाता है। सत्ता सम्भालने के बाद से ही शावेज लगातार साम्राज्यवादियों के हितों के विपरीत और अपनी जनता के हित में नीतियाँ बनाते जा रहे हैं। शासन सम्भालने के बाद उन्होंने वेनेजुएला की तेल कम्पनियों, टेलीफोन सेवाओं एवं विद्युत कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया और साम्राज्यवादी टीवी चैनलों के मुकाबले अपना टीवी चैनल शुरू किया।

अभी हाल ही में झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले बच्चों की संगीत प्रतिभा निखारने के लिए उन्होंने 'सिमोन बोलिवार यूथ आर्केस्ट्रा' नामक एक गायन मंडली का गठन किया है। इस आर्केस्ट्रा के कुछ बच्चों की एक टोली ने पिछले महीने लन्दन के रॉयल एलबर्ट हॉल में अपना कार्यक्रम किया जिसकी संगीत प्रस्तुति की उपस्थित दर्शकों और ब्रिटिश मीडिया ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

नवम्बर में हुए ओपेक देशों के शिखर सम्मेलन में भी उन्होंने ईरान के साथ मिलकर अमरीकी डॉलर के साथ-साथ अन्य मुद्राओं में भी तेल का व्यापार करने का प्रस्ताव काफी पुरजोर तरीके से रखा। लेकिन सऊदी अरब के नेतृत्व में अमरीकी संश्रयकारी गुट की मुखालफत के चलते वे सफल न हो सके। विश्व बाजार में अमरीकी डॉलर की कीमत लगातार गिरती जा रही है जिसके कारण नवम्बर माह में तेल का दाम रिकार्ड 98.62 अमरीकी डॉलर प्रति बैरल तक पहुँच गया। डॉलर की कीमत में इस गिरावट के चलते ओपेक देशों की क्रय शक्ति में भी गिरावट आयी है। डॉलर की कमजोर स्थिति के कारण ओपेक देशों को जो नुकसान उठाना पड़ रहा है उसे देखते हुए ही वेनेजुएला और ईरान ने ओपेक सम्मेलन में यह प्रस्ताव रखा था कि ओपेक अपने तेल की कीमतें केवल डॉलर में न तय करे बल्कि एक मुद्रा समूह में तय करे जिसमें कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ भी शामिल हों। लेकिन शिखर सम्मेलन में इस पर आम सहमति नहीं बनायी जा सकी।

शिखर सम्मेलन के बाद वेनेजुएला और ईरान ने घोषणा की कि वे कई मुद्राओं में तेल की कीमतें निश्चित करने सम्बन्धी अपने प्रस्ताव के क्रियान्वयन के लिए प्रयासरत रहेंगे। विश्व बाजार में डॉलर की तेजी से गिरती कीमत के चलते यदि ओपेक देश डॉलर के मुकाबले अन्य मुद्राओं में भी तेल व्यापार को मंजूर कर लेते हैं तो ईरान के राष्ट्रपति अहमदीनेजाद के शब्दों में डॉलर की कीमत ''रद्दी का टुकड़ा'' भर रह जायेगी। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही ओपेक शिखर सम्मेलन में अमरीकी पिट्ठू सऊदी अरब ने डॉलर पर किसी बातचीत को हतोत्साहित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

शावेज ने तेल की कीमत बढ़ाने की वकालत करते हुए कहा कि पश्चिमी देशों ने शेष विश्व के साथ जो अन्याय किया है उसकी आंशिक भरपाई के लिए यह आवश्यक है। ओपेक नेताओं का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा कि ओपेक को ''उठ खड़ा होना चाहिए और गरीबी के खिलाफ दुनिया में अग्रिम मोर्चे पर डट जाना चाहिए।''

डॉलर और अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ शावेज का अभियान यहीं समाप्त नहीं हुआ। लातिन अमरीकी देशों के विकास के लिये आपसी सहयोग से गठित बैंक ऑफ साउथ की स्थापना भी इसीशृंखला की एक कड़ी है। इस नये लातीन अमरीकी बैंक की स्थापना के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करते हुए उन्होंने कहा कि इस बैंक का पहला कदम एक ऐसी मुद्रा का निर्माण करना है जो अमरीकी डॉलर का स्थान ले सके और फिर कदम दर कदम यह बैंक अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष तथा विश्व बैंक का स्थान ले लेगा।

6 लातीन अमरीकी देशों के राष्ट्रपतियों ने 10 दिसम्बर 2007 को बैंक ऑफ साउथ की स्थापना करने के दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये। क्षेत्रीय विकास बैंक के रूप में स्थापित इस बैंक को वेनेजुएला, बोलिविया और अर्जेण्टीना प्रारम्भिक पूँजी उपलब्ध करायेंगे।

अर्जेण्टीना, वेनेजुएला, ब्राजील, बोलिविया, इक्वाडोर और पराग्वे के राष्ट्रपतियों ने इस दस्तावेज पर दस्ताक्षर किये। उरुग्वे भी जल्दी ही इस पर अपनी सहमति देने वाला है।

इस बैंक का उद्देश्य लातिन अमरीकी देशों के आर्थिक विकास में बढ़ोत्तरी के साथ आधारभूत ढाँचे और निजी क्षेत्रों के लिए सस्ता ;ण उपलब्ध कराना है।

इस बैंक का मुख्यालय वेनेजुएला की राजधानी काराकास में होगा और इसकी शाखाएँ अर्जेण्टीना की राजधानी ब्यूनस आयर्स तथा बोलिविया की राजधानी लापेज में भी होगी। इस बैंक की प्रारम्भिक पूँजी 7 बिलियन डालर होगी तथा इसके बोर्ड में सभी सदस्य देशों के वित्त-मन्त्री शामिल होंगे। इस बैंक के प्रत्येक सदस्य को वीटो का अधिकार प्राप्त होगा।

1990 में ब्राजील और अर्जेण्टीना विदेशी सटोरियों की साजिशों के चलते संकट का शिकार हुए थे। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने संकट से उबारने के लिए इन देशों को ;ण

देने का प्रस्ताव रखा। लेकिन बदले में उसने इन देशों पर कठोर आर्थिक नीतियाँ अपनाने के लिए दबाव डाला था। बैंक ऑफ साउथ की स्थापना 1990 के बाद लातिन अमरीका के आर्थिक परिदृश्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

शावेज के प्रति अमरीकी बौखलाहट का एक अन्य प्रमुख कारण क्यूबा के राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रों के साथ शावेज की निरन्तर बढ़ती घनिष्ठता है। पचास के दशक से ही फिदेल कास्त्रो अमरीका की नाक के नीचे उसकी नीतियों को धता बताते हुए क्यूबा में एक समतामूलक समाज व्यवस्था के संचालन का काम कर रहे हैं। वेनेजुएला को भी इसी मार्ग पर अग्रसर करने में वे शावेज की मदद और मार्गदर्शन कर रहे हैं।

पिछले दिनों कास्त्रो और शावेज ने एक महत्त्वाकांक्षी योजना पर काम करना शुरू किया। इस योजना के तहत वेनेजुएला क्यूबा को तेल देता है और बदले में क्यूबा के डॉक्टर वेनेजुएला सहित पूरे लातिन अमरीका में गरीबों का इलाज कर रहे हैं। लगभग 20,000 क्यूबाई डॉक्टर वेनेजुएला में तथा लगभग 800 डॉक्टर बोलिविया में संसाधनों के अभाव के बावजूद वहाँ मरीजों का इलाज कर रहे हैं। इन डॉक्टरों की कार्यप्रणाली, सेवा और कर्त्तव्यनिष्ठा प्रशंसा तथा मदद के नाम पर साम्राज्यवादियों की लूट से इनकी तुलना करते हुए बोलिविया के राष्ट्रपति इवो मोरालिस ने कहा कि ''इन डॉक्टरों ने ये सोचे बिना कि बदले में उन्हें क्या मिलेगा, बोलिविया में 1,20,000 मरीजों का मु"त में इलाज किया। इसके बदले में क्यूबा हमसे क्या चाहता है? क्या वह हमारी खानों पर कब्जा करना चाहता है या हमारे पेट्रोलियम में साझीदार बनना चाहता है? नहीं, कभी नहीं। अमरीकी सहायता और विश्व बैंक व अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा दिये जाने वाले ;ण तथा लातिन अमरीकी देशों द्वारा आपस के किये जा रहे सहकार की तुलना करते हुए उन्होंने कहा कि ''एक हमसे उसका प्रतिफल चाहता है और अपनी शर्ते लादता है तथा दूसरा बिना किसी के सहायता करता है।''

लातीन अमरीकी देशों का यह आपसी सहयोग देखकर अमरीका चिन्तित और परेशान है। वह चाहता है कि किसी भी कीमत पर इसे खत्म किया जाये। लेकिन शावेज और कास्त्रो के रहते उसे यह सम्भव नहीं लगता। 2002 में सी. आई.ए. द्वारा शावेज को सत्ता से हटाने का प्रयास उनकी इसी बौखलाहट का सबूत है।

सवाल यह है कि जब शावेज इतनी जनपक्षधर नीतियाँ लागू कर रहे हैं और उन्हें इतना अधिक जनसमर्थन प्राप्त है तो वह संविधान संशोधन के लिए हुए जनमत संग्रह में क्यों पराजित हो गये? यह सवाल इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि शावेज के 'समाजवाद' को लेकर उनके दोस्तों और दुश्मनों में काफी विभ्रम मौजूद है।

दरअसल शावेज द्वारा प्रस्तावित संविधान संशोधन के कई बिन्दुओं ने उनके बहुत से सहयोगियों को भी आशंकित कर दिया था, खास तौर पर राष्ट्रपति के अधिकार बढ़ाने और सुरक्षा बलों को दिये जा रहे असीमित अधिकारों वाले प्रस्तावों ने। **एक व्यक्ति चाहे वह जितना भी ईमानदार, समर्पित और जनपक्ष ार क्यों न हो, उसकी करिश्माई शख्सियत की बदौलत सत्ताा परिवर्तन तो हो सकता है लेकिन केवल इसी दम पर किसी बड़े सामाजिक बदलाव को अंजाम दे पाना मुमकिन नहीं होता। असली सामाजिक परिवर्तन जनता की चेतना और व्यापक जनसमर्थन पर आ ाारित इन्कलाबी संगठन के दम पर ही सम्भव होता है। निश्चय ही शावेज पूरी ईमानदारी और जनहित की भावना से साम्राज्यवाद विरो ाी कदम उठा रहे हैं और वेनेजुएला में एक साम्राज्यवाद विरो ाी और समतामूलक समाज की बुनियाद रखने का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन इस ऐतिहासिक जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए मनोगत इच्छायें और पवित्रा भावनायें ही काफी नहीं है। कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी जन-आन्दोलनों के दौरान जनता के बीच अपने आ ाार का विस्तार करती है और संघर्षों के दौरान ही वह जनता की चेतना, पहलकदमी और सत्ताा में भागीदारी विकसित करती है।** लेकिन शावेज जब राष्ट्रपति बने थे तब उनकी कोई क्रान्तिकारी पार्टी नहीं थी। बाद में उन्होंने एक पार्टी बनायी भी लेकिन अपनी बनावट और बुनावट में वह क्रान्तिकारी पार्टी नहीं है। ऐसे में शावेज द्वारा राष्ट्रपति के अधिकारों को बढ़ाने की माँग और एक पद में ही सारी शक्ति समेट देने को लेकर यदि वहाँ की जनता में सन्देह व्याप्त है तो यह अनुचित नहीं। शावेज ने इसे स्वीकार किया है, अपनी आत्मालोचना की है और उम्मीद है कि वे इससे सबक लेकर आगे बढेंगे। शावेज की ढेर सारी सीमाएँ हैं और वे उन्हें समझने और सुधारने की कोशिश भी लगातार कर रहे हैं। उनके दिल में अपनी जनता के लिए प्यार और दुश्मनों के खिलाफ लड़ने का साहस है जो किसी भी क्रान्तिकारी के लिए सबसे बुनियादी गुण हैं। उनमें अपनी गलतियों को स्वीकारने और उससे सीखने का गुण भी है। उम्मीद है कि वे अपनी सीमाओं को समझेंगे और अपनी गलतियों को ठीक करके अपनी साम्राज्यवाद विरोधी जनपक्षीय नीतियों को आगे बढ़ायेंगे।

डॉलर : साम्राज्य में सेंध

❑ रेयाज-उल-हक

'द इकोनॉमिस्ट' भले ही इस बात पर खुशी जाहिर कर रहा हो कि डॉलर अभी ध्वस्त नहीं होने जा रहा है। मगर यह एक विश्व मुद्रा के लिए बहुत अच्छे संकेत नहीं है कि एक मॉडल उसे अपने पारिश्रमिक भुगतान के काबिल भी नहीं मानती। ब्राजील की सुपर मॉडल ग्रीसेल अब डालर स्वीकार नहीं कर रही हैं।

और ऐसा करने वाली ग्रीसेल अकेली नहीं है। अरबपति जार्ज सोरोस के पूर्व पार्टनर जिम रोजर्स अपनी पूरी जायदाद और मकान बेच रहे हैं, ताकि वे पूरी सम्पत्ति चीनी यूआन में तब्दील कर सकें। एयर बस ने पहले ही डॉलर के इस संकट को 'प्राणघातक' कहा है। फ्रांस के राष्ट्रपति निकोलस सरकोजी ने 'इकोनॉमिक वार' की चेतावनी दी है।

अमरीकी पूँजी का अमरीका से बाहर निवेश होना और बुश द्वारा यु) पर किये जा रहे भारी खर्च के बीच माँग और पूर्ति के सि)ान्त में विश्वास रखने वालों को यह अभी आकलन ही करना है कि डॉलर की माँग में कमी डॉलर की कीमत और अमरीकी शक्ति को किस तरह डुबो रही है।

दुनिया भर के अर्थशास्त्री मान रहे हैं कि डॉलर का इस तरह लुढ़कते जाना नियन्त्रण से बाहर हो सकता है। और अगर ऐसा हुआ तो अमरीकी साम्राज्य का बने रहना असम्भव हो जायेगा।

अगर हम थोड़ी कल्पना करने की इजाजत लें तो हम देखेंगे कि अमरीका के लिए तब भारी मुश्किल पैदा हो जायेगी, जब उसका डॉलर विश्व मुद्रा के रूप में अपना अस्तित्व खो देगा। तब अमरीका को विदेशों में स्थित अपने 737 सैनिक अड्डों के खर्च के लिए भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा अर्जित करनी होगी। अमरीका के 800 बिलियन के मौजूदा व्यापार घाटे को देखते हुए यह असम्भव लगता है। जब डॉलर रिजर्व करेंसी के रूप में नहीं रह जायेगा, विदेशी निवेशक अमरीकी व्यापार और बजट घाटे में पैसा लगाना भी बन्द कर देंगे।

2002 में, जबकि डॉलर का प्रभुत्व विश्व अर्थव्यवस्था पर सबसे अधिक था, उसके बाद से वह संयुक्त रूप से विश्व की शेष करेंसियों के मुकाबले 24 प्रतिशत नीचे गिरा है। अमरीकी ेडरल रिजर्व द्वारा ब्याज दरों में 0.75 ीसदी की कटौती के बावजूद इसकी गिरावट जारी है। बढ़ी हुई मुद्रास्फीति से उबरने के लिए ब्याज दरों में कटौती की जाती है। मगर अब अमरीका में यह माँग उठने लगी है कि डॉलर को विनाश से बचाने के लिए अभी और कटौती पर रोक लगायी जाये।

अभी कुछ समय पहले यह खबर आयी थी कि दुनिया के सात देश डॉलर का परित्याग करने वाले हैं। इनमें दक्षिण कोरिया, वेनेजुएला, ईरान, सूडान, चीन और रूस के साथ आश्चर्यजनक रूप से साऊदी अरब भी शामिल है। सऊदी अरब ने हाल में तब ब्याज दरों में कटौती से इनकार कर दिया, जब अमरीकी ेडरल रिजर्व ने ब्याज दरें घटायीं। जानकारों का कहना है कि यह स्थिति अमरीकी डॉलर के लिए एक विश्व मुद्रा के रूप में बेहद खतरनाक हालात पैदा करेगी। अमरीका के साथ लेन-देन में अकेली सऊदी अरब की 800 बिलियन डॉलर की भागीदारी है। और अगर सऊदी अरब ने डॉलर का साथ छोड़ दिया तो यह मध्यपूर्व में डॉलर के लिए एक बड़ा झटका साबित होगा। पूरे मध्यपूर्व के साथ अमरीका का 3500 बिलियन का लेन-देन है। दक्षिण कोरिया अगस्त में 100 मिलियन डॉलर बेच चुका है और ऐसी खबरें हैं कि वह एक बिलियन अमरीका बांड बेचने वाला है। चीन के बारे में माना जाता है कि डॉलर को उड़ा देने की क्षमता रखता है।

नवम्बर 2005 में दक्षिण कोरिया के मात्र इतना कहने से कि वह अपने विदेशी मुद्रा भण्डार में कटौती करने की योजना पर विचार कर रहा है, डॉलर के इतिहास में सबसे बड़ी एकदिवसीय गिरावट आयी थी। उस समय द कोरिया के पास मात्र 69 बिलियन डॉलर का भण्डार था। हम कल्पना कर सकते हैं कि चीन और जापान जैसे देशों, जिनके पास

कुल मिलाकर लगभग एक ट्रिलियन डॉलर का विदेशी भण्डार है, यदि डॉलर में कटौती पर विचार करें तो क्या हालत हो सकती है।

हम संकेतों को पढ़ सकते हैं। मध्यपूर्व में ताजा राजनीतिक-सैन्य गतिविधियों को देखें तो यु) को लेकर अमरीकी उतावली और ईरान के खिलफ नये सिरे से और तेजी से लामबन्दी का डॉलर के इस घटते प्रभुत्व से भी सम्बन्ध है। 2003 में इराक पर सारी दुनिया की जनता के प्रतिरोध को नजरअन्दाज करते हुए थोपे गये यु) के पूर्व भी ऐसी ही स्थिति थी। तब सद्दाम हुसैन ने अपने 10 बिलियन अमरीकी डॉलर के भण्डार को यूरों में बदल दिया था और उसकी देखा-देखी कई और देश इस राह पर जाने को तैयार थे।

1970 के बाद से जारी वैश्विक मन्दी से निकलने के सारे उपाय अब तक असफल साबित हुए हैं। उल्टे संकट और सघन हुआ है। लातीन अमरीका, एशिया और अफ्रीका में जनता के तेज होते प्रतिरोध संघर्षों के बीच उसका संकट और बढ़ेगा ही।

...और जाहिर है, ऐसे में 'द इकोनॉमिस्ट' के लिए खुशफहम और राहत भरे दिन लम्बे समय तक नहीं रहने वाले हैं।

धार्मिकता और अमीरी-गरीबी

क्या किसी देश की धार्मिकता और उसके आर्थिक विकास में कोई समाचार-विचार सम्बन्ध है? हाल ही में प्रकाशित प्यू ग्लोबल एटीट्यूड्स के अध्ययन के नतीजे बताते हैं कि कोई देश कितना धार्मिक है इसका सीधा रिश्ता उसकी आर्थिक हैसियत से है।

उदाहरण के लिए एक तरु एशिया और अफ्रीका के गरीब देशों में धर्म आज भी लोगों के जीवन के केन्द्र में है तो दूसरी तरु यूरोप के धनी देशों में धर्मनिरपेक्ष नजरिये का प्रचलन आम है। अधिकांश इलाकों और देशों में यही रुझान दिखायी देता है।

लेकिन कुछ अपवाद भी हैं। अमरीका इनमें प्रमुख है। समृ) के बावजूद यूरोप के बहुत से देशों की तुलना में अमरीका के निवासी ज्यादा धार्मिक हैं। तेल के चलते समृ) इस्लामी देश, जैसे-सऊदी अरब और कुवैत भी ऐसे ही अपवाद में शामिल हैं।

अफ्रीका, एशिया और पश्चिमी एशिया में यह आम राय काफी मजबूती से कायम है कि नैतिकता और अच्छे मूल्यों के लिए भगवान पर विश्वास करना जरूरी है जबकि अधिकांश यूरोप में बहुमत का मानना है कि किसी धर्म में आस्था के बिना भी आदमी नैतिक हो सकता है। अमरीका में 57 ीसदी लोग भगवान में आस्था रखना जरूरी मानते हैं। पूर्वी यूरोप के देशों के मध्यम वर्ग के लोग सबसे कम धार्मिक हैं।

मुस्लिम देशों में कट्टरपन्थी और आधुनिकतावादी मुसलमानों के बीच एक संघर्ष मौजूद है। हालाँकि अधिकांश लोग धर्म को राजनीति से मिलाने के समर्थक नहीं हैं। लेकिन दो प्रमुख मुस्लिम देशों में रुझान इसके विपरीत हैं। ये दोनों अमीरका के मुख्य सहयोगी देश हैं।

पाकिस्तान में धार्म और राजनीति को अलग-अलग करने की माँग का समर्थन बढ़ा है, जबकि तुर्की में पिछले 5 सालों में इस माँग के समर्थक काफी कम हुए हैं।

इसी तरह, अधिकांश लातिन अमरीकी देशों और अफ्रीकी देशों में बहुमत की राय है कि औरत को अपना पति खुद चुनना चाहिए। दक्षिण एशिया और अधिकांश अरब देशों में बहुमत की राय है कि यह परिवार का काम है। इसमें परिवार और औरत दोनों की राय लेना जरूरी है। बुरका पहनने के बारे में वहाँ के अधिकांश मुसलमानों की राय है कि औरतों को आजादी होनी चाहिए कि वे खुद ही इसे तय करें।

जहरीले जहाज तोड़ने का धन्धा

मजदूरों की लाश और पर्यावरण के विनाश की बदौलत

❑ रत्नेश

ला क्लिमेंसियू जहाज का भूत सालभर बाद ही ब्लू लेडी का रूप धारण कर दुबारा भारत के शासकों के सिर पर सवार हो गया। पिछले साल ला क्लिमेंसियू नाम के एक विमान वाहक फ्रांसिसी जहाज को भारत के किसी कबाड़ी ने तोड़ने के लिए खरीदा था। इस जहाज पर भारी मात्रा में खतरनाक पदार्थ मौजूद थे। भारत के अलंग बन्दरगाह द्धगुजरातऋ में इसे तौड़ने की पूरी तैयारी थी लेकिन दुनियाभर में जबरदस्त विरोध के आगे झुकते हुए फ्रांस सरकार ने ला क्लिमेंसियू को वापस बुला लिया था। लेकिन इस पूरे प्रकरण ने दुनिया के सामने भारतीय न्याय व्यवस्था के चरित्र और पर्यावरण के प्रति भारत सरकार के रवैये की पोल खोल दी।

सरकार के इस रवैये में कोई बदलाव नहीं आया। यही कारण है कि एक और कबाड़ जहाज ब्लू लेडी द्धजो पहले एस.एस. नार्वे और उससे पहले एस.एस. फ्रांस के नाम से जाना जाता थाऋ भाव नगर के अलंग तट पर तोड़ने के लिए पहुँचा दिया गया। पिछले साल भी सरकार ने सिल्की नाम के ऐसे ही जहरीले जहज को तोड़ने की इजाजत दे दी थी। ब्लू लेडी एक समय सबसे जाना-माना विराटकाय समुद्री जहाज था। 11 मंजिलों, 16 डेकों तथा 1400 कमरों वाले इस सवारी जहाज की लम्बाई 315 मीटर है। यह स्विमिंग पूल, रेस्तराँ, दुकानें, सिनेमा हॉल, लाइब्रेरी इत्यादि से पूरी तरह सुसज्जित था।

2003 में जहाज के इन्जन रूम में विस्फोट हो गया था जिसमें इस जहाज के 7 कर्मचारी और मियामी बन्दरगाह पर मौजूद 13 नागरिक मारे गये थे। तभी से इस जहाज को कबाड़ी के हाथों बेचने की साजिश चल रही थी। यूरोप में पर्यावरण के कड़े नियम-कानून और लोगों में जागरुकता के चलते वहाँ ऐसे जहरीले कचरे को निबटाना टेड़ी खीर है। इसीलिए भारत जैसे देशों के मुनाफे के भूखे सरमायादार इन कबाड़ों को सस्ते दर पर खरीदकर खूब कमाई करते हैं। वे जानते हैं कि यहाँ की सरकार और कानून व्यवस्था कितनी लचर है और कितनी आसानी से चाँदी के जूते मारकर अपने हक में कोई भी फैसला करवाया जा सकता है।

पहले ब्लू लेडी जहाज को मरम्मत के बहाने जर्मनी भेज दिया गया। फिर मलेशिया में एक तैरता हुआ होटल खोलने के बहाने ले जाया गया। जब वहाँ से भगाया गया तो इसे तोड़ने के लिए इसके मालिकों ने बांग्ला देश भेजने की कोशिश की। लेकिन बांग्लादेश सरकार ने इसमें मौजूद खतरनाक पदार्थों को ध्यान में रखते हुए इसे अपने समुद्री क्षेत्र में घुसने तक की इजाजत नहीं दी। बाद में इस जहाज को दुबई ले जाने के बहाने भारतीय कर्मचारियों के साथ लक्ष्यद्वीप तक लाया गया। तभी एक जहाज तोड़ने वाली भारतीय कम्पनी अचानक दृश्य पटल पर आयी। हरियाणा शिप डिमोलिशन प्राइवेट लिमिटेड नामक इस कम्पनी ने दावा किया कि उसने इस जहाज को तोड़ने का अधिकार खरीद लिया है। इस कम्पनी ने सर्वोच्च न्यायालय से ''मानवीय आधार'' पर याचना की कि ''खराब मौसम के कारण इस जहाज पर कार्यरत भारतीय कर्मचारियों की जान को खतरा है तथा इसे अस्थायी तौर पर भारतीय समुद्री क्षेत्र में लंगर डालने की अनुमति दी जाय।'' कम्पनी जानती थी कि एक बार भारत के समुद्र तट तक जहाज पहुँच जाय तो बाकी अड़चने भी दूर हो ही जायेंगी और वही हुआ। सर्वोच्च न्यायालय ने 5 जून 2006 को अस्थायी रूप से भारतीय क्षेत्र में उसे खड़ा करने की अनुमति दे दी।

अलंग बन्दरगाह पर जहाजों के तोड़ने से सम्बन्धित आधारभूत ढाँचे का जायजा लेने के लिए पिछले साल सर्वोच्च न्यायालय ने एक 13 सदस्यीय समिति गठित की थी। इसी समिति को उसने ब्लू लेडी जहाज को तोड़ने के बारे में जाँच-पड़ताल का काम भी सौंप दिया और उसे आठ सप्ताह में अपनी रिपोर्ट पेश करने का निर्देश दिया। बाद में समिति ने इस काम के लिए अगस्त तक का समय ले लिया।

सर्वोच्च न्यायालय को प्रस्तुत अपने 20 पन्ने की रिपोर्ट में समिति ने यह साफ तौर पर लिखा कि इस समिति के सभी सदस्य इस मामले में अनुभवहीन हैं...द्धमजेदार बात यह

है कि इसी अनुभवहीन समिति की संस्तुति पर सर्वोच्च न्यायालय ने जहाज तोड़ने की इजाजत दी है।ऋ समिति के सदस्यों ने पाया कि इस जहाज में एस्बेस्टस का उपयोग भारी मात्रा में हुआ है। कुछ कमरों के नाप-जोख के बाद यह अनुमान लगा कि जहाज में लगभग 1240 टन एस्बेस्टस मौजूद है। साथ ही इसमें सीसे की 108 बैटरियाँ भी मौजूद हैं। उस रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि जहाज में खतरनाक रसायन पॉलीक्लोरीनेट बाइफिनाइल का भी अनेक जगहों पर इस्तेमाल हुआ है हालाँकि उसकी मात्रा नहीं मापी जा सकी। एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार ब्लू लेडी जहाज में 1100 स्थानों पर घातक रेडियोधर्मी पदार्थ द्धएकरीसियम-241ऋ मौजूद है जिसके सम्पर्क में आने से कैंसर जैसी जानलेवा बीमारी होती है। कुल मिलाकर इस जहाज में 1700 टन खतरनाक पदार्थ हैं जो उस ला क्लिमेंसियू जहाज के मुकाबले अढ़ाई गुना अधिक है जिसे व्यापक विरोध के कारण फ्रांस वापस बुलाना पड़ा था। इस रिपोर्ट की पुष्टि प्रिया ब्लू कम्पनी ने भी की है जिसके पास आज इस जहाज का मालिकाना है।

इतनी भारी मात्रा में खतरनाक पदार्थ होने के बावजूद समिति ने स्किारिश की है कि कोई अन्य खतरनाक पदार्थ किसी प्रकार का और किसी मात्रा में नहीं पाया गया जो सावधानी से अलंग बन्दरगाह पर हटाया तथा निपटाया न जा सके। और अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ एक शर्तों के साथ इस जहाज को तोड़ने की इजाजत दे दी।

इस जहाज के साथ यह प्रमाण पत्र नहीं है कि इसके जहरीले पदार्थों का शु)ीकरण कर लिया गया, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के मुताबिक समुद्र तट पर लाने की इजाजत के लिए जहाज के पास ऐसा प्रमाण होना जरूरी है। दूसरे, जहाज में मौजूद जहरीले पदार्थों के आयात पर भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के मुताबिक रोक है। जाहिर है कि इस जहाज को भारत लाने और तोड़ने की कार्रवाई पूरी तरह गैर कानूनी है। ब्लू लेडी जहाज से जुड़े इस प्रकरण ने भारतीय न्याय व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मजाक बना दिया है। इस नाटक को देखकर तो ऐसा लगता है कि यदि सरकार किसी दिन दिल्ली पर परमाणु बम गिरा कर उसका परीक्षण करने की अनुमति दिये जाने को भी जायज ठहराये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी।

सिक्के का दूसरा पहलू एक ऐसी सच्चाई है जो अलंग बन्दरगाह में काम करने वाले 30,000 लोगों से जुड़ी हुई है और जो उनकी जिन्दगी को नर्क में तब्दील कर रही है।

ये बड़े-बड़े भीमकाय जहाज बड़ी मात्रा में खतरनाक पदार्थों से बने होते हैं जैसे एस्बेस्टस, पॉली क्लोरिनेट बाईफिनाइल, सीसा, क्रोमेट्स, मरकरी या अन्य रेडियोधर्मी पदार्थ। अन्तरराष्ट्रीय कानून के हिसाब से इनमें से कई पदार्थों का निर्यात प्रतिबन्धित है। अलंग बन्दरगाह में काम करने वाले श्रमिकों के पास इन खतरनाक पदार्थों से बचने के लिए उचित संसाधन नहीं हैं। यहाँ तक कि इन श्रमिकों के पास जूते, हेलमेट, दस्ताने और नाक पर बाँधने वाली पट्टी भी नहीं हैं। दूसरी तरु इन श्रमिकों को जहाज में उपयोग किये गये खतरनाक पदार्थों से स्वास्थ्य पर होने वाले स्थायी और दूरगामी कुप्रभावों के बारे में भी जानकारी नहीं दी जाती है। अलंग बन्दरगाह पर काम करने वाले ज्यादातर मजदूर गरीब और पिछड़ी जाति के लोग हैं, जिनकी उम्र 20 से 40 वर्ष है। हर रोज इन्हें 11-12 घण्टे काम करना पड़ता है। साथ ही इन्हें रहने-खाने की सुविधा भी नहीं दी जाती है। किसी भी बाहरी व्यक्ति से बात करने की इन्हें आजादी नहीं है। अगर किसी से बात करते पाये गये तो इन्हें नौकरी से निकाल दिया जाता है। ये श्रमिक पूर्णतः ठेकेदार की मर्जी पर रहते हैं। ठेकेदार जब चाहे इन्हें नौकरी पर रख लेता है और जब चाहे नौकरी से निकाल कर ेंक देता है। यहाँ तक कि दुर्घटना और मृत्यु पर भी कोई निश्चित मुआवजा नहीं है। हाल ही में ''राष्ट्रीय पेशागत स्वास्थ्य संस्थान'' द्वारा अलंग बन्दरगाह पर जहाज तोड़ने वाले मजदूरों के स्वास्थ्य का सर्वेक्षण किया गया जिससे पता चला कि कई मजदूर एस्बेस्टीयोसिस नामक बीमारी से ग्रसित हैं जो एस्बेस्टस के कण साँस द्वारा ेड़े में जाने से होता है।

अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार संघ की रिपोर्ट के अनुसार अलंग बन्दरगाह पर 1997 से 2002 के बीच 132 मौतें तथा 173 दुर्घटनाएँ हुईं। 2003 में एक विस्फोट ने 12 श्रमिकों की जान ली थी। ये घटनाएँ वहाँ के लिए बहुत ही आम बात है। अलंग बन्दरगाह पर इन दुर्घटनाओं से श्रमिकों की सुरक्षा का कोई इन्तजाम नहीं है। आमतौर पर जहाजों को तोड़ते समय तेल या गैस से भरी कोई पाइप ट जाती है जो दुर्घटना का कारण बनती है। श्रमिकों द्वारा गुजरात श्रमिक कोर्ट में कई मामले दायर किये गये पर उनमें से ज्यादातर मामलों में श्रमिकों की हार हुई। अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार संघ ने गुजरात श्रमिक कोर्ट की कानूनी कार्रवाइयों पर टिप्पणी करते हुए उन्हें ''पूरी तरह से श्रमिकों के खिलाफ'' बताया है।

केन्द्र तथा राज्य सरकार ने अलंग बन्दरगाह पर काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति सुधारने के बारे में अभी तक कोई कदम नहीं उठाये हैं। जहाज तोड़ने के कारोबार को सस्ता बनाये रखने के दबाव में गुजरात मेरी-टाइम बोर्ड और श्रम विभाग इस बन्दरगाह पर कोई श्रम कानून तथा सुरक्षा नियमों को नहीं लागू करता है। यहाँ अकुशल श्रमिकों का वेतन 40 रुपये से भी कम है तथा कुशल श्रमिकों का वेतन 75 रुपये से कम है।

कुल मिलाकर जहाज तोड़ने का यह कारोबार श्रमिकों की दुर्दशा, विगड़ते स्वास्थ्य और मौत के मुँह में समाती उनकी जिन्दगी की कीमत पर ¤ल-¤ूल रहा है। ये तो रही श्रमिकों की बात, दूसरी तरु जहाज तोड़ने के कारोबार से होने वाला प्रदूषण इस इलाके की हवा, पानी, भूजल और जमीन की उर्वरता को बुरी तरह से नष्ट कर रहा है।

अलंग बन्दरगाह के आसपास के 12 गाँवों के 30,000 लोगों ने इस कारोबार के खिलफ़ न्यायालय में अपील की है। इस कारोबार के चलते लगभग 6 किलोमीटर समुद्री इलाके की सारी मछलियाँ मर गयीं, इसलिए अब मछुआरों को मछली पकड़ने के लिए समुद्र में कफ़ी दूर जाना पड़ रहा है। पिछले 15-20 सालों में खेती की पैदावार भी लगातार घट रही है। ¤सलों में अब जल्दी ही रोग और कीड़े लग जाते हैं। जहाज तोड़ने के तकनीकी पहलू से सम्बन्धित एक समिति का मानना है कि अलंग का भूजल बहुत ही प्रदूषित हो चुका है। ब्लू लेडी जहाज को तोड़ने की इजाजत देकर भारतीय शासक वर्गो ने यह साफ़ कर दिया है कि न तो उन्हें भारत के गरीब तबके के लोगों की जिन्दगी या मौत से कोई सरोकार है और न ही उन्हें यहाँ के पर्यावरण के विनाश की कोई चिन्ता है।

साम्राज्यवादी देशों ने भारत जैसे गरीब देशों को आज कचरा फेंकने का गड्ढा बना दिया है। भारतीय शासक बेशर्मी के साथ उनकी इस गुण्डागर्दी में साथ दे रहे हैं। जब जहाज नया था तो उनके लिए ऐश-मौज का जरिया था और जब जर्जर हो गया तो इसे भारत के किसी कबाड़ी को बेच दिया। क्या हमारे शासक अपने इसी चरित्रा के दम पर देश को महाशक्ति बनाने का ख्वाब देखते हैं? क्या वे बांग्ला देश के शासकों से भी गये गुजरे-हृदयहीन, बुद्धिहीन और रीढ़विहीन हैं?

भारत बना अमरीका का कूड़ेदान

देश को महाशक्ति और खुद को 'महासम्राट' मानने वाले भले ही मुगालते में हों, लेकिन अमरीका और यूरोप की नजर में भारत एक ऐसा देश है जहाँ वे अपने कूड़े-कचरे और तमाम सड़ी-गली चीजों को इत्मिनान से ठिकाने लगा सकते हैं।

उन देशों में प्रतिबन्ि ात दवाएँ हमारे देश में ाड़ल्ले से बिकती हैं। उन देशों का प्रतिबन्ि ात परमाणु ऊर्जा रियेक्टर हासिल करने के लिए यहाँ के शासक देश की सम्प्रभुता को भी दाँव पर लगाने को तैयार हैं। उनकी दवाओं के परीक्षण के लिए हमें 'गिनीपिग' बनाया जा रहा है। हमारे उच्च शिक्षित नौजवानों को कॉल सेण्टरों में उनकी गालियाँ खाना जैसे काफी नहीं था। अमरीका 'रणनीतिक साझेदारी' करके अब हमारे देश के फौजियों को तोप का चारा बनाने की तैयारी हो रही है। उन देशों में प्रतिबन्ि ात कीटनाशक हमारे देश में खुले आम बेचे जा रहे हैं। उनके खरपतवारों और कीट पतंगों का हम गेहूँ और फलों के साथ अपने देश में आयात कर रहे हैं। उनके जहरीले सड़े-गले जहाज हमारे देश में लाकर तोड़े जा रहे हैं।... सूची अन्तहीन है।

बस एक ही चीज की कमी थी वह भी पूरी हो गयी। न्यू यार्क शहर की नगरपालिका का ६० टन कूड़ा भारत में फेंकने के लिए कोच्चि बन्दरगाह पर आयात किया गया। स्थानीय नागरिकों द्वारा विरो ा किये जाने पर कस्टम अि ाकारियों ने भले ही कन्टेनर को सील कर दिया, लेकिन 'महाशक्ति' का सपना दिखाने वाले देश के शासक किस तरह देश को कूड़ेदान बना रहे हैं, यह हकीकत तो सामने आ ही गयी।

भारत के गाँवों पर मुनाफाखोरों की गिद्धद ष्टि

देशी-विदेशी सरमायादारों के लिए देश का मतलब बाजार है और यहाँ के निवासी उसके लिए खरीददार। अपने माल की बिक्री और मुनाफे के लिए वे हमारे देश का कोना-कोना छानते रहते हैं। शहरी बाजार को उपभोक्ता मालों से पाटने और अधिकतम बिक्री के लिए हाथ-पाँव मारने के साथ ही अब इनकी गि)दृष्टि गाँव की ओर गड़ गयी है।

हमारे देश के लगभग 74 करोड़ लोग और 12 करोड़ 80 लाख परिवार गाँवों में रहते हैं। शहरों की तुलना में यह आबादी तीन गुनी है। 1991 के बाद कृषि क्षेत्र का कुल उत्पादन 17 करोड़ 60 लाख टन से बढ़कर 20 करोड़ टन हो गया है। वैसे देखें तो 16 वर्षों में 13.5 ीसदी की यह बढ़ोतरी नहीं के बराबर है। लेकिन कुल मिलाकर यह 2.6 करोड़ टन बैठता है जो मुनाफाखोरों को ललचा रहा है। इसके अलावा गैर-कृषक गतिविधियों का भी गाँवों में तेजी से विस्तार हुआ है जो आज ग्रामीण अर्थव्यवस्था के 50 ीसदी से भी ज्यादा है। इसके चलते ग्रामीण भारत में एक ऐसा उपभोक्ता वर्ग पैदा हुआ जो गाँव की आबादी के अनुपात में तो बहुत कम है लेकिन कुल मिलाकर इसकी संख्या काी है। यह भारत के मध्यवर्ग का 41 ीसदी है और देश भर में उपभोग पर खर्च होने वाली कुल आय का 58 ीसदी इसके पास है। ये आँकड़ें सरमायादारों ने काी प्रयत्न करके इकट्ठा करवाए हैं ताकि वे इन ग्राहकों पर अपना सही निशाना साध सकें।

विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत के ग्रामीण क्षेत्र में मौजूद इस बाजार की विपुल सम्भावना को दो दशक पहले ही भँप चुकी थीं जब दैनिक उपभोग के सामान बनाने वाली कम्पनियों ने अपने टूथपेस्ट, साबुन, डिटर्जेंट, सॉ"ट ड्रिंक्स जैसे सामानों को बेचने के लिए इस बाजार में कदम रखा था। लेकिन अब कम्पनियों द्वारा 'ग्रामीण रणनीति' का जो नया अध्याय शुरू किया गया है वह पहले से बहुत भिन्न है। ग्रामीण बाजार में ग्राहकों की नयी-नयी रुचियों का पता लगाया जा रहा है और अभी तक अछूते इस बाजार में बिक्री की सभी सम्भावनाएँ तलाशी जा रही हैं। ग्रामीण भारत का कुल अनुमानित बाजार सालाना 1 लाख 23 हजार करोड़ रुपये का है जिसे देखकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, खासकर उपभोक्ता सामान बनाने वाली कम्पनियों के मुँह में पानी भर आता है। आज गाँवों में दैनिक उपभोग के सामानों का बाजार लगभग 65 हजार करोड़ रुपये, दुपहिया वाहनों का 5000 करोड़ रुपये और तिपहिया वाहनों का 8000 करोड़ रुपये का बाजार है।

नहाने के साबुन के लगभग 70 ीसदी और दुपहिया वाहनों के लगभग 38 ीसदी खरीददार ग्रामीण इलाके के हैं। टीवी, पंखे, प्रेशर कूकर, साइकिल, कपड़ा धोने के साबुन, ब्लेड, चाय, नमक और दंत मंजन, के कुल बाजार का आधा ग्रामीण इलाके में स्थित है। शहरी बाजार की तुलना में दैनिक उपयोग के सामानों का ग्रामीण बाजार ज्यादा तेजी से बढ़ रहा है। विदेशी कम्पनियों की नजर भारत के इसी बाजार पर है।

ग्रामीण बाजार में उतरने की इस दौड़ में तरह-तरह की कम्पनियाँ शामिल हैं—दैनिक उपभोग के खुदरा सामान बेचने वाली कम्पनियों से लेकर दवा कम्पनियाँ, औद्योगिक उत्पाद बेचने वाली कम्पनियाँ और बहुत सी प्रौद्योगिकी कम्पनियाँ भी। कुछ की रणनीति है—अपने उत्पाद ्टफट बेचना। लेकिन बहुत सी कम्पनियाँ सालों तक बाजार जमाने और इन्तजार करने के लिए तैयार हैं। एक दीर्घकालिक रणनीति के तरत वे पूरी की पूरी ग्रामीण आबादी को अपने बाजार के दायरे में ले आने की कोशिश कर रही हैं, स्र्फि थोड़े से ग्रामीण अभिजात वर्ग को नहीं। याहू कम्पनी इसमें सबसे नयी है। कई महीनों तक बाजार का अध्ययन करने के बाद अन्ततः इस इन्टरनेट कम्पनी ने भी ग्रामीण बाजार में अपनी पैठ बनाने का ैसला किया है। गूगल इन्टरनेट कम्पनी से तीखी प्रतियोगिता के कारण इसे भी ग्रामीण बाजार में उतरना पड़ा। गूगल कुछ सप्ताह पहले ही ग्रामीण बाजार में उतर चुकी है। ये कम्पनियाँ अभी मुनाफे के बारे में नहीं सोचती। इनकी रणनीति है कि पहले गाँव में बाजार तैयार कर लिया जाय। उन्होंने अपने ग्रामीण उपभोक्ताओं की जरूरत की जानकारियाँ जैसे मौसम का हाल, ्फसल चक्र की जानकारी, ज्वार-भाटे क समय वगैरह उपलब्ध करवाना

शुरू किया है और कम्प्यूटर से जानकारी हासिल करने के तरीकों को आसान बनाया है। इसी तरह कनाडा की कम्पनी डाटा विण्ड नेट एक्सेस कार्पोरेशन भारत की आईटी कम्पनी नाज़सकॉम के साथ गठजोड़ करके उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र के गाँवों और छोटे कस्बों में इन्टरनेट प्रशिक्षण कार्यक्रम चलायेगी ताकि इन्टरनेट इस्तेमाल करने वालों की संख्या बढ़ाई जा सके और राज्य तथा जिलों की प्रशासनिक सेवाओं से उन्हें जोड़ा जा सके।

साम्राज्यवादी संस्कृति और रंग-ढंग को गाँवों तक पहुँचाने के लिए हॉलीवुड की फ़िल्मों और यहाँ तक कि कार्टूनों को हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में डब करके गाँवों में पहुँचाया जा रहा है। उदाहरण के लिए बेल्जियम के कार्टून टिन टिन को अब भारत के गाँवों तक पहुँचाया जा रहा है जिसकी कॉमिक्स और डी. वी. डी. पहले अँग्रेजी में आयात की जाती थी। टिन टिन को हिन्दी सिखाने के पीछे शु) व्यावसायिक हित काम कर रहा है। अँग्रेजी की पहुँच थोड़े से लोगों तक है। यही वजह है कि आज अधिकांश अँग्रेजी कार्यक्रम और हॉलीवुड फ़िल्में भारतीय भाषाओं में डब की जा रही हैं। टिन टिन का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद करके उपभोक्ताओं की संख्या कितनी अधिक बढ़ायी जा सकती है इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है।

देश के गाँवों में सड़क, परिवहन के साधन और बिजली जैसी बुनियादी सुविधाओं का अभाव ग्रामीण बाजार के दोहन में सबसे बड़ी समस्या है। भारत के कुल 6 लाख 27 हजार गाँव 32 लाख वर्ग किलोमीटर मेंफ़ैले हुए हैं। कोई भी गम्भीर व्यवसायी इस आबादी के ठीक-ठाक हिस्से तक अपनी पैठ बनाना चाहेगा। अर्थात 5000 से अधिक आबादी वाले कम से कम 13 हजार 113 गाँवों में अपना धन्धा फ़ैलाना चाहेगा। गाँवों तक सेवाओं और सामानों की नियमित आर्पूति के लिए गाँव की सड़कें और परिवहन के साधन ही सबसे बड़ी बाधा हैं। फ़िर भी सालों से मेहनत करके हिन्दुस्तान लीवर द्धभारत की सबसे बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनी यूनिलीवर की सहायक कम्पनीऋ ने ग्रामीण भारत में एक मजबूत वितरण व्यवस्था कायम कर ली है जो इसके मालों को सुदूर देहात तक ले जाती है।

केरल के तटवर्ती इलाकों के सुदूर गाँवों तक माल पहुँचाने के लिए थोक व्यापारी, ऑटोरिक्शा, बैलगाड़ियों और यहाँ तक कि बैकवाटर में चलने वाली नावों का भी इस्तेमाल करते हैं। कोका कोला कम्पनी जो ग्रामीण भारत को अपने भावी विकास का इन्जन मानती है, क्रमशः सुदूर गाँवों तक पहुँचने के लिए प्रयासरत है। कम्पनी के डिपो सप्ताह में दो बार बड़े वितरकों को माल सप्लाई करते हैं। ये बड़े वितरक चारों ओर बिखरे छोटे वितरकों को ह"ते में एक या दो बार माल देते हैं। एलजी इलेक्ट्रानिक्व कम्पनी जो सात महानगरों के अलावा पूरे भारत के सभी शहरों और कस्बों को भी ग्रामीण और अ)शहरी बाजार के रूप में परिभाषित करती है, इस बाजार तक पैठ बनाने के लिए 45 क्षेत्रीय कार्यालय और 59 ग्रामीण क्षेत्रीय कार्यालय कायम कर चुकी है।

क्या कारण है कि ग्रामीण बाजार विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अधिक लुभा रहे हैं? पुराने समय से चली आ रही भारत की ग्रामीण व्यवस्था में भी 20 फ़ीसदी उपभोक्त वर्ग है जिसे 80 फ़ीसदी गरीब जनता को कंगाली का शिकार बनाकर कायम रखा जा सकता है। यहाँ की भारी आबादी के चलते 20 फ़ीसदी ग्रामीण उपभोक्ताओं की कुल संख्या 15 करोड़ है जो कुल युरोप के बाजार से भी बड़ा है। गाँवों में अन्धाधुन्ध आपूर्ति करना उनकी रणनीति है। पहले से मौजूद उपभोक्ता वर्ग ही उनके लक्ष्य हैं। उत्पादक गतिविधियों को बढ़ावा देकर ग्रामीण आबादी का रोजगार बढ़ाना, उनकी आमदनी और क्रयशक्ति बढ़ाना ताकि उपभोक्ताओं की संख्या और सामानों की माँग बढ़ सके यह आज के देशी-विदेशी सरमायादारों या शासक वर्गों की नीति नहीं है। उन्हें तो बस अपना माल खपाने के लिए बाजार चाहिये।

बड़ी कम्पनियाँ जब बाजार में उपभोक्ता माल लायेंगी तो उपभोक्तावादी संस्कृति द्धमीडिया के जरिये पश्चिमी नग्नता और साम्राज्यवादी मूल्य-मान्यताओं का प्रचार-प्रसारऋ भी लायेंगे, जिससे लोभ-लालच और भोग-लिप्सा को बढ़ावा मिलेगा, तभी उनका माल बिकेगा। अब तक जितना इस संस्कृति का फ़ैलाव हुआ है उसके चलते ही लूटपाट, अपहरण दहेज की माँग और तरह-तरह के दूसरे अपराधों को बढ़ावा मिला है। स्वाभाविक प्रक्रिया में माँग के अनुरूप बाजार का विस्तार न होना इसका कारण है। यह साम्राज्यवाद प्रेरित मॉडल पूरी तरह ऊपर से थोपा हुआ है। जो भारतीय समाज को तबाही और नरक की ओर ले जाएगा।

निजी बैंकों की बढ़ती मनमानी और अत्याचार

बैंकों के बकाया पैसों की वसूली के लिए नई-नई रिकवरी ङ्कवसूलीऋ संस्थाएँ देशभर में खड़ी हो रही हैं। इन संस्थाओं के एजेन्टों द्वारा बैंक के कर्जदारों को गैर कानूनी तरीके से डराना-धमकाना आये दिन की घटना होती जा रही है। पिछले कुछ समय से ऐसे कई मामले सामने आ रहे हैं, जिनमें अपमानित और भयभीत होकर लोगों को दिल का दौरा पड़ने, पिटाई से मर जाने या बार बार अपमानित होने के कारण अपनी जीवन-लीला समाप्त करने जैसी दर्दनाक घटनाएँ शामिल है। बैंकों के एजेन्टों की इस क्रूरता और ह्रदयहीनता को देखकर वित्त मन्त्री ने भी कर्ज वसूली के लिए दादागीरी करने पर कठोर कार्रवाई की बात कही है। इससे पहले भी रिजर्व बैंक ने बैंकों की वसूली के तौर तरीकों पर आपत्ति जतायी थी। लेकिन रिजर्व बैंक के मुखिया जिस दिन यह बयान दे रहे थे, उसी दिन हैदराबाद के एक कर्जदार ने बैंक वसूली एजेण्टों से त्रस्त होकर खुदकुशी कर ली थी। इसके दो दिन बाद दिल्ली की एक उपभोक्ता अदालत ने निजी बैंक आईसीआईसीआई पर पचास लाख का जुर्माना लगाया। साथ ही उसने यह आदेश भी दिया कि बैंक अपने वसूली एजेण्टों द्वारा प्रताड़ित उपभोक्ता को पाँच लाख रुपये का हर्जाना दे। उपभोक्ता आयोग के अध्यक्ष, न्यायाधीश जे.डी. कपूर ने कहा कि वसूली एजेण्टों द्वारा अपनाये गये तरीके ''मानवाधिकारों'' का गम्भीर उलंघन है। इस आदेश के बावजूद बैंक के एजेण्ट कर्ज से खरीदी गयी उपभोक्ता की कार भी छीन ले गये।

रिजर्व बैंक ने बैंकिंग व्यवस्था को चलाने के लिये कुछ नियम-कानून बनाये हैं जिसके तहत कोई बैंक अपने कर्जदार को प्रताड़ित या परेशान नहीं कर सकता। लेकिन वसूली एजेण्टों द्वारा कर्जदारों के साथ बदसलूकी दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही है।

बैंकों के वसूली एजेन्टों की प्रताड़ना के चलते अब हर माह आत्महत्या के मामले सामने आ रहे हैं। लेकिन ऐसा हमेशा से नहीं था। आर्थिक उदारीकरण-वैश्वीकरण से पहले बैंकों से कर्ज लेना सबसे सुरक्षित और भरोसेमन्द उपाय माना जाता था। लेकिन नयी आर्थिक नीति लागू होने के बाद भारत में नये-नये निजी और विदेशी बैंक भी खुल गये। आपसी प्रतिस्पर्धा की अन्धी दौड़ में बैंकों ने कर्ज देने की शर्तों में ढील देनी शुरू कर दी। इससे देखते-देखते बैंकों का कारोबार जम गया। बैंकों की इस सोची-समझी रणनीति से कर्जदारों का एक नया तबका तेजी से बढ़ा। बैंकों ने उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार करके आम लोगों को अपनी बचत से ज्यादा खर्च करने के लिये ललचाया। इसी प्रचार का असर है कि मध्यम वर्ग का एक हिस्सा चमक-दमक की दुनिया और उपभोक्तावाद के प्रभाव में अपने आपको कमतर नहीं देखना चाहता। लिहाजा वह बैंकों से कर्ज लेकर अपनी हैसियत बेहतर बनाने में जुट गया। बैंकों के कायदे कानून इतने उलझाने वाले होते हैं और इतनी तेजी से बदलते हैं कि कर्जदार व्यक्ति को इसकी सही जानकारी नहीं मिल पाती और वह ठगा जाता है।

वसूली एजेण्टों द्वारा सताये गये ज्यादातर लोग मध्यम वर्गीय होते हैं। जबरन कर्ज वसूली के अधिकांश मामले भी एक से दो लाख रुपये के बीच पाए गये हैं जबकि बैंकों के ज्यादातर कर्ज उच्च वर्ग के अमीर तबकों पर ही बकाया होते हैं। बैंकों के पैसे हड़पने में भी यही जमात सबसे आगे रहती है। लेकिन बैंक का कोई गुण्डा इन महागुण्डों को हाथ नहीं लगा सकता।

आसान और लुभावनी शर्त पर कर्ज देने के मामले में अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो और टीवी चैनलों पर दिनों-रात विज्ञापन करने और उदारतापूर्वक कर्ज बाँटने वाला आईसीआईसीआई बैंक कर्जदारों से अपना कर्ज वसूलने के मामले में पहले ही काफी कुख्यात रहा है। लेकिन कानूनी कार्रवाइयों के बावजूद इस बैंक की दहशत बढ़ती ही जा रही है। दूसरे बैंक भी कानूनों की धज्जियाँ उड़ाने में पीछे नहीं हैं।

पहले बैंकों का मुख्य काम खेती, उद्योग, व्यापार या अन्य व्यवसायों के लिए कर्ज देना था। इससे देश और समाज का विकास भी होता था और बैंकों का मुनाफा भी बढ़ता था। लेकिन, आज इन बैंकों का एक ही मकसद रह गया है–अधिक से अधिक मुनाफा कमाना। इसके लिए ये बैंक उत्पादन कार्यों पर कर्ज देने और जोखिम उठाने के बजाय कार, मकान, टीवी, फ्रीज या अन्य उपभोक्ता सामानों पर

कर्ज देना ग़ायदेमन्द और सुरक्षित समझते हैं। इन्ही तरीकों को अपनाकर आईसीआईसीआई बैंक आज देश में दूसरे नम्बर का कर्जदाता बैंक हो गया है और 2500 करोड़ की सालाना कमाई कर रहा है।

सवाल यह है कि ये बैंक आखिर बेलगाम क्यों होते जा रहे हैं? क्या हमारी सरकार इनके अत्याचार को रोकना नहीं चाहती है? उसमें कितनी सच्चाई है? सच तो यह है कि हमारी सरकार इन बैंकों की मनमानी पर रोक लगाना नहीं चाहती है क्योंकि इसके लिए यह खुद भी कम जिम्मेदार नहीं। 1991 में सरकार ने जनविरोधी नयी आर्थिक नीतियों को लागू किया। जितने भी नये-नये जनविरोधी-राष्ट्रविरोधी कानून हमपर थोपे गये हैं वे इसी की देन हैं। इन नीतियों के चलते ही ये देशी-विदेशी निजी बैंक भी इतनी बेरहमी से लूट मचा रहे हैं। सरकार और सरकारी अधिकारियों के बयान तो मगरमच्छ के आँसू हैं। इनकी कथनी-करनी एक नहीं है। कथनी जनता को भरमाने वाली है, जबकि करनी बैंकों और सरमायादारों की तिजोरी भरने वाली है।

ईरान-पाकिस्तान-भारत गैस पाइप लाइन चौबे गये छब्बे बनने, दूबे भी नहीं बन पाये

अन्ततः ईरान-पाकिस्तान-भारत गैस पाइप लाइन परियोजना से भारत बाहर हो ही गया। ईरान और पाकिस्तान ने भारत के शामिल हुए बिना ही 7.4 अरब डॉलर के इस गैस पाइप लाइन सौदे को अन्तिम रूप दे दिया।

तीनों देश पिछले 10 सालों से इस सौदे के लिए प्रयास कर रहे थे। दिल्ली में हुई त्रिपक्षीय बैठक में गैस की कीमत पर सहमति हो गयी थी और सौदा लगभग तय हो गया था। बस उसे अन्तिम रूप देना बाकी था। लेकिन नाभिकीय समझौते के लिए आतुर भारत सरकार ने अमरीकी दबाव में आकर इस समझौते से अपने पैर पीछे खींचना शुरू कर दिया। समझौते को अन्तिम रूप देने के लिए बुलायी गयी दो बैठकों में भारत लगातार गैरहाजिर रहा। बहाने के तौर पर उसने कहा कि वह तभी वार्ताओं में शामिल होगा जब पाकिस्तान अपने इलाके से गुजरने वाली गैस का परिवहन शुल्क कम कर दे। पाकिस्तान ने इससे सम्बन्धित बातचीत के लिए नवम्बर में दो तारीखें तय कीं लेकिन भारत ने अपनी ओर से कोई व्यग्रता नहीं दिखायी। दरअसल भारत सरकार इस दुविधा में है कि स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुसरण करते हुए तीसरी दुनिया के देशों के साथ गुटनिरपेक्ष नीति अपनाये या अमरीका को खुश करे। अमरीका की पूँछ पकड़कर बैतरणी पार करने की कोशिश में लगी भारत सरकार नाभिकीय समझौते की वार्ताओं के दौरान अमरीका को किसी भी कीमत पर नाराज नहीं करना चाहती थी।

भारत में 2006-07 में 17 करोड़ घन मीटर गैस की माँग थी जबकि देश में इसका आधा ही उत्पादन हो रहा है। माँग और पूर्ति के इस अन्तर को पाटने के लिए भारत को गैस का आयात करने की सख्त जरूरत है। इसलिए ईरान से 22 अरब डॉलर मूल्य की 50 लाख टन गैस आयात करने का यह सौदा बहुत ही महत्त्वपूर्ण था।

लेकिन अमरीकी दबाव और उसे खुश करने की ख्वाहिश में भारत सरकार इस समझौते से अलग हो गयी। एक ओर भारत के हुक्मरान देश की जनता से झूठ बोलते रहे कि ईरान गैस पाइप लाइन परियोजना को लेकर उनके ऊपर कोई दबाब नहीं है, दूसरी ओर वे इस परियोजना से पीछे भी हटते गये। अमरीकी दबाब के कारण पहले मणि शंकर अ"यर को पेट्रोलियम मन्त्री के पद से हटाया गया जो इस पाइप लाइन परियोजना में चीन को भी शामिल करना चाह रहे थे। अमरीका को खुश करने के लिए ही भारत इन बैठकों में शामिल नहीं हुआ। विपक्षी पार्टियों के अलावा सत्ताधारी गठबन्धन की पार्टियों ने भी यह आरोप लगाया है कि अमरीका के दबाब के चलते ही यह सौदा खटाई में पड़ गया। भारत के लिए यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि समझौता लगभग हो गया था और ईरान भी गैस निर्यात के लिए लगभग तैयार था। 44 फ़ीसदी पाइप लाइन बिछायी जा चुकी थी और परियोजना के लिए जरूरी कुल पाइप के 98 फ़ीसदी का इन्तजाम कर लिया गया था।

इस परियोजना से अलग होने के बाद भारत सरकार

उसके विकल्प के रूप में अमरीका द्वारा समर्थित तुर्कमानिस्तान-अफगानिस्तान-पाकिस्तान पाइप लाइन समझौते में शामिल होने जा रही थी जो एशियाई विकास बोर्ड द्वारा प्रायोजित थी। इस परियोजना की संचालन समिति की एक बैठक 28-29 नवम्बर को बुलायी गयी थी जिसमें भारत सरकार गैस पाइप लाइन ''समझौते के बिन्दुओं'' और ''समझौते की रूपरेखा'' पर हस्ताक्षर करने वाला था। लेकिन उसके ठीक पहले विराट रूसी गैस और तेल कम्पनी गजप्रोम (GAZ PROM) ने तुर्कमानिस्तान से यूरोप तक गैस ले जाने के लिए पाइप लाइन बिछाने का एक सौदा कर लिया। गजप्रोम इस गैस को ऊँचे दामों पर यूरोप के देशों को बेचेगा। इसके लिए उसने तुर्कमानिस्तान को अगले साल से तुर्कमानिस्तान-अफगानिस्तान-पाकिस्तान पाइप लाइन की तुलना में 50 ीसदी अधिक कीमत देने का वायदा किया है। ऐसे में अगले कम से कम 10 वर्षों तक तुर्कमानिस्तान-अफगानिस्तान-पाकिस्तान-भारत पाइप लाइन परियोजना के अस्तित्व में आने के कोई आसार नहीं दिखायी देते। भारत सरकार की हालत अब उस चौबे जी जैसी हो गयी है जो छब्बे बनने चले थे लेकिन दूबे बने बगैर ही वापस आना पड़ा था।

आत्मनिर्णय की आजादी के लिए दो बुनियादी जरूरतों–खाद्यान्न और ईंधन के मामले में आत्मनिर्भर होना अनिवार्य शर्त है। इसके अभाव में किसी भी देश को अपमानजनक शर्तों के आगे झुकने पर मजबूर किया जा सकता है। यह दुखद सच्चाई है कि आज इन दोनों ही मामलों में देश की आत्मनिर्भरता या तो खत्म हो चुकी है या होती जा रही है। विदेश नीति और खाद्यान्न नीति का निर्धारण अब देश की सम्प्रभुता और आजादी को ध्यान में रखते हुए नहीं किया जा रहा है बल्कि सब कुछ अमरीका को खुश करने की गरज से हो रहा है। इसके चलते विकल्प चुनने की शासक वर्गों की आजादी सीमित होती जा रही है। अपने ''महाशक्ति'' बनने के शेखचिल्लीनुमा ख्वाब के लिए भारत का शासक वर्ग देश की आजादी और सम्प्रभुता का सौदा करने को तैयार है और उसके लिए हरचन्द कोशिश में लगा है। उसके इसी मन्शूबे की कीमत आज पूरा देश चुका रहा है। ईरान गैस पाइप लाइन समझौते का जो हश्र हुआ और अमरीका द्वारा सुझाये गये विकल्प का जैसे बण्टाढार हुआ, वे इस बात की ताजा मिसालें हैं।

फिरंगियों ने भारतीय सिपाहियों को गिनीपिग बनाया था

गार्जियन अखबार ने दस्तावेजी सबूतों के आधार पर एक रपट प्रस्तुत की है। इसमें बताया गया है कि दूसरे महायु) के दौरान अंग्रेजों ने सैकड़ों भारतीय सिपाहियों को गिनीपिग [विलायती चूहे] की तरह गैस चेम्बर में डालकर उन पर जहरीली गैसों के घातक प्रभावों की जाँच की थी। इस आपराधिक कुकृत्य के लिए उन सिपाहियों की सहमति लेने का तो कोई सवाल ही नहीं था क्योंकि वे लोग फिरंगियों की गुलाम प्रजा थे।

1930 में विल्ट शायर के जहरीले रसायनों के एक कारखाने के मालिक यह जानना चाहते थे कि मस्टर्ड गैस को अगर आदमी के ऊपर आजमाया जाय तो गोरी चमड़ी वालों पर उसका ज्यादा बुरा असर होगा या भारतीय लोगों पर। इस गैस का प्रयोग जापानियों के खिलफ यु) में किया जाना था। रावलपिण्डी के बैरकों में लगभग 15 वर्षों तक ऐसे प्रयोग किए जाते रहे। इस बीच लगभग 500 से ज्यादा लोगों पर इस गैस का परीक्षण किया गया।

ब्रिटिश सेना ने भारतीय सैनिकों पर गैस के दुष्प्रभावों की बारीकी से जाँच नहीं की थी। अब पता चला है कि इससे कैंसर और दूसरी कई बीमारियाँ हो सकती हैं। इनमें से कई लोगों की त्वचा जल गयी थी और कई ह"तों तक उन्हें अस्पताल में भर्ती होना पड़ा था।

1916 से 1989 के बीच लगभग 20,000 सिपाहियों पर इस पोर्टन कम्पनी ने मस्टर्ड और नर्व गैस सहित कई जहरीली गैसों का प्रयोग किया था जिसका मकसद रासायनिक यु) में उनका इस्तेमाल करना था।

इस रिपोर्ट से जाहिर होता है कि दुनिया को सभ्य बनाने के स्वयंभू ठेकेदार खुद कितने बर्बर, जालिम और वहशी थे। उनकी बर्बरता, जुल्म और वहशत के निशान ग्वाटेनामों जेल तथा इराक और अफगानिस्तान की धरती पर आज भी देखे जा सकते हैं।

१८५७ के संग्रामियों का अपमान करने आये फिरंगी

1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के दौरान मारे गये फिरंगियों के वारिस अपने पुरखों को याद करने और 1857 की 150 वीं वर्षगाँठ को 'विजय दिवस' के रूप में मनाने के लिए इंग्लैण्ड से भारत आये। उनकी योजना मेरठ, दिल्ली, आगरा, लखनऊ, झाँसी और इलाहाबाद सहित अन्य कई स्थानों पर अपने पुरखों की मजारों पर ूल चढ़ाकर अपने उपनिवेशवादी अहंकार का प्रदर्शन करना था। भारतीय शासन-प्रशासन को इसकी पूरी जानकारी थी और उन्होंने इस काम में उनकी भरपूर मदद की। हर तरह की सुविधाओं और सुरक्षा का चाक-चौबन्द इन्तजाम था लेकिन जगह-जगह पर जनता के विरोध-प्रदर्शन के कारण उनका सपना पूरा नहीं हुआ।

आगरा के किले में उन्होंने एक अंग्रेज लेि"टनेन्ट गवर्नर की कब्र पर गुपचुप तरीके से ूल-मालाएँ चढ़ाईं। इस दौरान खुफिया विभाग के कर्मचारी और सुरक्षाकर्मी फिरंगियों की सुरक्षा में लगे रहे। खबर मिलते ही स्थानीय लोगों ने इसका जमकर विरोध किया। ग्वालियर से लखनऊ पहुँचे कुछ फिरंगियों का इरादा रेसिडेन्सी तक जाकर वहाँ 'विजय उत्सव' मनाने का था लेकिन लोगों के विरोध के कारण उन्हें दिनभर होटल में ही बन्द रहना पड़ा। वहाँ से वे कलकत्ता के लिए रवाना हो गये।

20 सितम्बर को, जिस दिन बहादुर शाह जफर को अंग्रेजों ने गिर"तार किया था और उनके तीन बेटों का कत्ल किया था, ब्रिटिश सेना के कुछ वर्तमान और पूर्व अधिकारियों के एक दल ने मेरठ के सेन्ट जोन्स कब्रगाह जाकर 1857 में मारे गये अंग्रेज सैनिकों को श्र)ांजलि दी। उनका इरादा वहाँ के चर्च पर एक शिलापट्ट लगाना था जिस पर लिखा था-''पहली और 60 वीं बटालियन, किंग रॉयल राइफल के द्वारा मेरठ और दिल्ली में 10 मई से 20 मई 1857 के बीच बहादुराना और विशिष्ठ सेवा अर्पित करने की 150 वीं बरसी पर उनके वारिस रेजिमेन्ट और राइफल द्वारा सितम्बर 2007 में उन्हें याद करते हुए।'' लेकिन चर्च के पादरी पीटर बलदेव ने इस पत्थर को लगाने से इन्कार कर दिया। फिरंगियों की इन करतूतों पर तब विराम लगा जब मेरठ, गाजियाबाद, दिल्ली, आगरा लखनऊ सहित हर जगह उन्हें जनता के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा।

आजादी के बाद हमारे शासकों ने अंग्रेजों की औपनिवेशिक विरासत के एक बड़े हिस्से को अपना लिया था। अंग्रेज चले गये, लेकिन यहाँ की नौकरशाही, न्याय व्यवस्था, संस्कृति, भाषा, शिक्षा, इन सारी चीजों पर अंग्रेजी राज का प्रभाव बना रहा। इतिहास ऐसे पढ़ाया जाता रहा जैसे वे गोरे फिरंगी हमें सभ्य-सुसंस्कृत बनाने आये थे और भारत के उ)ारक थे। इस तरह औपनिवेशिक नजरिया पढ़ाने-बढ़ाने का काम आजादी के बाद भी जारी रहा। दूसरों की क्या कहें, खुद प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने विदेशी विश्वविद्यालय में, जहाँ कभी वे छात्र रहे थे, जाकर कहा कि-आपने हमें शासन करना सिखाया। उन्होंने अंग्रेजी राज की शासन प्रणाली और अंग्रेजी तौर-तरीकों की खुलेआम तारीफ की।

अंग्रेजों के उत्तराधिकारी हमारे देश के शासकों ने फिरंगियों के काले कारनामों का भंडाफोड़ नहीं किया। उल्टे उन्होंने आजादी की लड़ाई में अकूत बलिदान देने वाले वीर नायकों की यादों को जनमानस से मिटा देने की भरपूर कोशिश की।

यही कारण है कि आम जनता और नई पीढ़ी को अपने इतिहास के नायकों के बारे में जानकारी नहीं के बराबर है। तांत्या टोपे, बहादुर शाह जफर और वाजिद अली शाह के वंशज आज गरीबी और फाकाकशी के शिकार हैं जबकि अंग्रेजों का साथ देने वाले सिन्धिया परिवार जैसे अंग्रेजों के ढेर सारे पिट्ठू आज भी सत्ता के शीर्ष पर विराजमान हैं। अंग्रेज चले गये लेकिन अंग्रेजी नजरिया और तहजीब का अभी भी बोलबाला है।

1990 के बाद जब देश में एक नये तरीके से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की वापसी हुई और यहाँ के शत्रु-सहयोगी वर्गों द्वारा उनके साथ मिलकर जनता पर नयी गुलामी थोपी गई तब यह स्वाभाविक है कि कुछ अंग्रेज अपने पुरखों की

'शहादत' के 150 वीं सालगिरह मनाने आयें और हीरों के रूप में उन्हें याद करें। इसमें सरकार और सरकारी तन्त्र की मिलीभगत भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। सरकार के लिए तो वे प्रतिष्ठित मेहमान थे। यहाँ के पर्यटन उद्योग के मुनाफाखोरों की ललचाई निगाह उनके पौण्ड से भरे पर्स पर थी। यही कारण है कि 1857 के अनाम शहीदों की छाती को रौंदते हुए उन्हें दमनकारी फिरंगी शासकों के मजार तक पहुँचाने की साजिश रची गयी। आखिरकार जनता सड़कों पर उतरी और उसने उनके नापाक मन्सूबों पर पानी फेर दिया।

फिरंगियों की दरन्दिगी

पिछले दिनों ब्रिटेन में गुलामों के व्यापार का अन्त किए जाने की 200वीं सालगिरह मनायी गयी। इस अवसर पर तरह-तरह के आयोजन करके यह बताया गया कि इंग्लैण्ड कितना महान है जिसने गुलामों के व्यापार का खात्मा कर दिया। इस सदाशयता के पीछे इस वीभत्स और घृणित सच्चाई को छिपाना मुमकिन नहीं कि यह वही ब्रिटेन है जिसने 300 सालों तक गुलामों का व्यापार किया और उसी के दम पर मालामाल होता रहा। हुक्म बजाने में जरा सी देर होने, आनाकानी करने या थोड़ा सा प्रतिरोध करने पर उन गुलामों के ऊपर बेरहमी से कोड़े बरसाये जाते थे और यहाँ तक कि उनके हाथ-पैर और यौन अंग भी काट लिए जाते थे।

आगे चलकर उसी इंग्लैण्ड में जब गुलामों के वंशजों को कुछ सुविधाएँ मिलने लगीं तो उन पर हीन भावना से ग्रसित करने वाले फिकरे कसे जाते थे। उन्हें गलत बातें पढ़ायी जाती थीं और उन्हें 'समस्याग्रस्त' विद्यार्थी माना जाता था। कानून ऐसा था कि थोड़ा सा भी सन्देह होने पर पुलिस उन्हें जेल में ठूँस देती थी। इसी कानून के तहत लन्दन की एक अश्वेत बस्ती में पुलिस ने ''स्वाम्प-81'' अभियान चला कर ढेर सारे बेकसूर लोगों को गिरफ्तार किया था। इस घटना की प्रतिक्रिया में पूरे देश में दंगा फैल गया था।

गुलामी प्रथा शुरू होने के कुछ ही समय बाद गुलामों ने व्यक्तिगत स्तर पर और सामूहिक रूप से विद्रोह करना शुरू कर दिया था। विद्रोह के 'जुर्म' में उन्हें क्रूरतापूर्ण यातनाएँ दी जाती थीं, फिर भी गुलामों का प्रतिरोध नहीं थमा। अन्त में गुलामी प्रथा और गुलामों का व्यापार खत्म करना पड़ा।

लन्दन के मेयर ने हाल ही में एक लेख लिखा जिसमें गुलामों पर किये गये बर्बर अत्याचारों के कुछ दृष्टान्त दिये गये हैं। उसने लिखा है कि अनुमानतः डेढ़ से तीन करोड़ गुलामों को विभिन्न देशों से लाकर उनकी खरीद-फरोख्त की गयी। गुलाम बनाये जाने के बाद से ही उनकी मौत का सिलसिला शुरू हो जाता था। लगभग 5 फीसदी तो यात्रा शुरू होने से पहले कैद में ही दम तोड़ देते थे जबकि 10 फीसदी से भी ज्यादा समुद्री यात्रा के दौरान मर जाते थे। लगभग 20 लाख गुलामों को सीधे कत्ल कर दिया गया था। जमैका के एक अंग्रेज प्लाण्टर ने अपने एक गुलाम को एक गन्ना चूसने के जुर्म में कोड़े लगाये, उसके घाव पर सिरका डाला और अपने लठैत से उसके मुँह में पखाना करवाया। 1750 तक अमरीका और यूरोप में अश्वेत होने का मतलब गुलाम होना था। 1774 में जमैका के इतिहास में यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि ''अश्वेत गुलाम एक अलग प्रजाति के हैं जो बहुत घपलेबाजी और बेढंगेपन से काम करने वाली और ओरांग उटांग से भी गयी गुजरी है।''

गुलामों का व्यापार दुनिया को सभ्य बनाने के नाम पर गौरांग प्रभुओं द्वारा दुनिया में ढाए गये वहशियाना जुल्मों की ही एक बानगी है। इस वीभत्स और घिनौने इतिहास के धब्बे इंग्लैण्ड के चेहरे पर आज भी मौजूद हैं। अभाव और वंचना के दलदल में धकेल दिये गये ब्रिटेन के लाखों अश्वेत बाशिन्दे साम्राज्यवादियों द्वारा अतीत में किये गये अपराधों का जिन्दा सबूत हैं। गुलामी के खात्मे की 200वीं सालगिरह के जलसों ने इस पर परदा डालने के बजाय इस सच्चाई को और अधिक उभारने का ही काम किया है कि साम्राज्यवादियों का इतिहास दरिन्दगी और कत्लोगारत का नापाक दस्तावेज है।

घरेलू हिंसा को सही ठहराया महिलाओं ने–एक सरकारी रिपोर्ट

राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वे के मुताबिक भारत की 40 ग़ीसदी महिलाओं को उनके पति किसी न किसी बात पर पीटते हैं। सर्वे में शामिल की गयी औरतों में से लगभग 54 ग़ीसदी का कहना है कि अलग–अलग कारणों से उनको पति द्वारा पीटा जाना उचित है।

किसी भी समाज में महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक स्थिति उस समाज की असली कहानी बयान करती है। भारतीय समाज में महिलाओं की दशा के बारे में तथ्यों से हम अपने समाज की स्थिति को समझ सकते हैं।

राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण–III द्ध2005–06ऋ के मुताबिक 28 राज्यों और राजधानी दिल्ली की एक लाख पच्चीस हजार औरतों में से 41 ग़ीसदी औरतों ने कहा कि यदि मलिलायें ससुराल वालों का विरोध करती हैं तो उन्हें पीटना ठीक है जबकि 35 ग़ीसदी औरतों ने कहा कि यदि वे घर का चूल्हा–चौका व बच्चों का ठीक से पालन पोषण नहीं करतीं तो पति द्वारा उनकी निर्मम पिटाई भी बिल्कुल जायज है। उसी सर्वे में 75 हजार पुरुषों का भी साक्षात्कार हुआ जिनमें 51 ग़ीसदी ने औरतों की पिटाई को उचित बताया। साथ ही यह बात भी सामने आयी कि जब तक औरतें अपने पति द्वारा पीटे जाने को स्वीकार करती रहें तब तक उन्हें पीटा जाना ठीक है। दूसरी तरु शादी से पहले लड़कियों को सिखाया जाता है कि पति की बात न मानने पर उनकी पिटाई होना सामान्य सी बात है। पिटाई के अलावा अपमान की घटनाएँ तो जैसे महिलाओं की जिन्दगी का जरूरी हिस्सा है।

हमारे देश में दहेज के लिए औरत की जीभ काटने, कुएँ में ऱेंकने, नशे का इंजेक्शन लगाकर जंगल में ऱेंक देने जैसी हृदयविदारक घटनाएँ अक्सर अखबारों में आती रहती हैं। फ़िर भी लगभग सभी राज्यों में दहेज हत्या या घरेलू हिंसा के मामलों में महिलाएँ खुद को उत्पीड़ित नहीं मानती हैं। किसी भी सभ्य समाज के लिए इससे चिन्ताजनक और दु:खद बात भला और क्या होगी?

एक सर्वे के मुताबिक चार अपमानित महिलाओं में से केवल एक ही घरेलू हिंसा का अन्त चाहती है और केवल दो ग़ीसदी अपमानित महिलाएँ ही पुलिस को रिपोर्ट करने जाती हैं। पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण से कई अन्य चौंकाने वाले तथ्य सामने आये, जैसे–भारत में 10 में से एक महिला अपने ही पति द्वारा यौन शोषण का शिकार होती है और 6 में से एक महिला भावनात्मक शोषण का शिकार होती है। 62 ग़ीसदी महिलाएँ शादी के शुरुआती दो सालों में और 32 ग़ीसदी महिलाएँ शादी के पाँच सालों के भीतर शारीरिक शोषण या यौन शोषण का शिकार होती हैं।

सर्वे की गयी औरतों में से लगभग 34 ग़ीसदी ने बताया कि उनके पति थप्पड़ मारते हैं, 15 ग़ीसदी ने बताया कि उनके पति या तो बाल खींचते हैं या बाहें मरोड़ते हैं जबकि लगभग 14 ग़ीसदी का कहना है कि उनके ऊपर कोई भी सामान ऱेंककर मारा जाता है।

महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति तो और भयावह है। प्रसव के दौरान मरने वाली औरतों की संख्या सबसे अधिक भारत में ही है। यहाँ गर्भावस्था या प्रसव के दौरान हर सात मिनट में एक महिला की मौत होती है।

हमारे समाज में महिलाओं पर बर्बर अत्याचार का कारण शिक्षा का निम्न स्तर व समाज का जाति धर्मों में बँटा होना है। आँकड़े बताते हैं कि दलित समुदाय की महिलाएँ सबसे ज्यादा द्धतीन में से एकऋ घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं। बौध धर्म की महिलाएँ सबसे ज्यादा 41 ग़ीसदी, हिन्दू–मुसलमान 34–35 ग़ीसदी, सिख–क्रिश्चियन 26–28 ग़ीसदी और जैन समुदाय की 13 ग़ीसदी महिलाएँ घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं। 16 ग़ीसदी दसवीं और बारहवीं तक पढ़ी महिलाएँ और 47 ग़ीसदी अशिक्षित महिलाएँ घरेलू हिंसा की शिकार होती हैं।

आँकड़े बताते हैं कि सन् 2005 में गर्भावस्था या प्रसव के दौरान पूरी दुनिया में लगभग 5.36 लाख औरतों की मृत्यु हुई, जिनमें से 1.17 लाख भारतीय औरतें थीं।

भारत के स्वास्थ्य मन्त्रालय ने भी माना कि राष्ट्रीय महिला स्वास्थ्य सर्वेक्षण–III द्वारा जारी किए गये मातृ मृत्यु दर के आँकड़े सचमुच भारत के लिए शर्म की बात हैं। इस सर्वे के नतीजे वास्तव में चौंकाने वाले हैं क्योंकि महिलाओं का अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों को उचित ठहराना बहुत ही दु:खद बात है। यह हमारे समाज और महिलाओं की बेबसी और लाचारी का सूचक है।

पिछले वर्ष सरकार ने घरेलू हिंसा को रोकने के लिए

कानून भी बना दिया लेकिन घरेलू हिंसा को रोकने के लिए कानून बना देना ही काफी नहीं है। आधी आबादी पर इन अत्याचारों के जारी रहते हम सभ्य समाज की कल्पना नहीं कर सकते। हमें औरतों को शिक्षित व सक्षम बनाकर उन्हें अपने साथ हो रहे अत्याचारों के प्रति जागरुक करना होगा। साथ ही समाज में औरतों के उत्पीड़न को एक जघन्य अपराध के रूप में स्थापित करना होगा। यह काम एक मजबूत सामाजिक आन्दोलन के द्वारा ही सम्भव है। इतनी गहराई तक फैली इस समस्या को हम ऊपर से थोपे हुए कागजी कानूनों के जरिये दूर नहीं कर सकते। वही कानून कारगर होता है जो सामाजिक व्यवहार और आन्दोलनों के दौरान जन साधारण के द्वारा बनाया जाता है। इस पूँजीवादी व्यवस्था में चाहे जितने ही कानून बनें महिलाओं की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सकता, खास-तौर पर हिन्दुस्तान के पूँजीवाद में जो ढेर सारी सामन्ती विकृतियों को लिये-हुए है। समानता पर आधारित एक स्वस्थ्य समाज व्यवस्था ही महिलाओं के शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य और सम्मान की गारण्टी दे सकती है।

बड़ी खुदरा कम्पनियों के खिलाफ छोटे व्यापारियों का संघर्ष

छोटे व्यापारियों और छोटे दुकानदारों के हिंसक आन्दोलन के बाद उत्तर प्रदेश सरकार ने रिलायंस के खुदरा बाजार में प्रवेश पर रोक लगा दी है। रिलायंस के खिलाफ इसी तरह के आन्दोलन झारखण्ड, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में भी हुए हैं। केरल सरकार ने तो पहले ही बड़ी खुदरा कम्पनियों पर रोक लगा दी थी। सरकार में शामिल वामदल भी खुदरा बाजार में विदेशी निवेश का विरोध कर रहे हैं।

इतने बड़े पैमाने पर विरोध और हिंसा की आशंका के चलते प्रधानमंत्री कार्यालय भी खुदरा बाजार में बड़ी कम्पनियों के आगमन से छोटे दुकानदारों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करवाने के लिये बाध्य हुआ। कलकत्ता, अहमदाबाद, दिल्ली और हैदराबाद में करवाये गये इस सर्वे के दौरान 1600 दुकानदारों से बात की गयी जिनमें से 800 की दुकाने खुदरा शोरूम के अढ़ाई किमी के दायरे में स्थित थीं। सर्वे ने इस हकीकत को सामने ला दिया है कि सरकार के इस फैसले से छोटे दुकानदारों को भारी नुकसान हो रहा है। 50 फीसदी दुकानदारों की बिक्री और लाभ में कमी आयी है जबकि 61 फीसदी ने शिकायत की कि उनकी खराब आर्थिक हालत के लिए बड़ी खुदरा कम्पनियों से मिल रही चुनौती जिम्मेदार है। गुड़गाँव में बिजनेश स्टैण्डर्ड अखबार द्वारा करवाये गये सर्वे भी इस की पुष्टि करते हैं कि छोटे दुकानदार, छोटे व्यापारी, किराना दुकानदार और फल-सब्जी के ठेले लगाने वाले बड़ी खुदरा कम्पनियों के सामने टिक नहीं पा रहे हैं। ये कम्पनियाँ अपने विराट ए.सी. शोरूमों में उनकी तुलना में ज्यादा माल स्टोर करके 5-10 फीसदी कम दामों और विशेष छूट योजनाओं के साथ बेच रही हैं जो छोटे दुकानदार के लिए सम्भव नहीं है।

सर्वे के नतीजों की जानकारी होने से विरोधियों और आन्दोलनकारियों का गुस्सा बढ़ेगा, इस भय से सरकार ने सर्वे की रिपोर्ट को सार्वजनिक नहीं किया है। इससे बड़ी कम्पनियों के साथ उसकी मिलीभगत का पता चलता है। बड़ी खुदरा कम्पनियों के प्रवेश पर रोक लगाने के बजाय वह विदेशी खुदरा कम्पनियों को भी निवेश की छूट देने वाली है और वित्तमन्त्री पी. चिदम्बरम कहते हैं कि वे इसके विरोध में खड़े छोटे दुकानदारों और छोटे व्यापारियों को 'धैर्यपूर्वक शिक्षित' करेंगे। गौरतलब है कि भारत में थोक कारोबार में और खुदरा बिक्री से जुड़े पृष्ठ भूमि के कामों, जैसे-वितरण व्यवस्था, परिवहन आदि के क्षेत्र में पहले ही 100 फीसदी विदेशी पूँजीनिवेश की इजाजत है। एक ब्राण्ड के सामान बेचने वाली खुदरा दुकानों के क्षेत्र में विदेशी पूँजी को 51 फीसदी निवेश करने की इजाजत है। सिर्फ एक ही छत के नीचे कई प्रकार के सामानों की खुदरा दुकान खोलने की उन्हें अनुमति नहीं थी जो सरकार अब देने जा रही है।

भारत का खुदरा बाजार 336 अरब डॉलर द्ध13 लाख 44 हजार करोड़ रुपये का है जिसका सिर्फ 4 फीसदी ही अभी बड़ी कम्पनियों के पास है। शेष 96 फीसदी कारोबार 1 करोड़ 20 लाख किराना दूकानों के जरिये होता है जिनमें 4 करोड़ लोगों को प्रत्यक्ष रोजगार मिला हुआ है। वालमार्ट जैसी बड़ी विदेशी खुदरा कम्पनियाँ एक अरसे से भारतीय खुदरा बाजार पर घात लगाए बैठी थीं। नाभिकीय समझौते के दौरान बनाये गये भारत-अमरीका सी.ई.ओ. फोरम में इन विशाल खुदरा कम्पनियों के उच्च अधिकारी भी शामिल थे

द्धदेखिए देश-विदेश-2ऋ तब से इन कम्पनियों के भारतीय बाजार में प्रवेश की प्रक्रिया में तेजी आयी है। वे देशी कम्पनियों की थोक भागीदार बनकर इस धन्धे में उतरी हैं और सीधे उतरने के लिए बेचैन हैं। लोगों के विरोध से प्रभावित हुए बिना वे तरह-तरह के हथकण्डे अपनाकर आगे बढ़ते जा रहे हैं और इस काम में सरकार उनकी हर तरह से मद्द कर रही है।

द्ध1ऋ नवम्बर 2006 में आर्थिक मामलों की संसदीय समिति ने राष्ट्रीय बागवानी मिशन के तहत निजी मण्डी कायम करने के प्रस्ताव को मंजूरी दे दी है। इसके बाद से राज्य सरकारें निजी कम्पनियों द्वारा कृषि उत्पादों की मण्डी खोलने के रास्ते की बाधाएँ तेजी से हटाती जा रही हैं। 10 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेश चण्डीगढ़ में ¤लों, सब्जियों, अनाज और अन्य कृषि उत्पादों को तीस निजी मण्डियों को जायेगी। राज्य सरकारें इसके लिये कृषि उत्पाद विपणन कानून में संशोधन कर रही हैं, निजी कम्पनियों के लिए जमीन की व्यवस्था करेंगी और चुनिन्दा वित्तीय संस्थाओं से उन्हें ;ण दिया जायेगा। सरकारें इन कम्पनियों के 49% तक शेयर खरीदकर उन्हें सीधे भी धन मुहैया करेंगी।

द्ध2ऋ कृषि उत्पादों के खुदरा व्यापार पर नियन्त्रण कायम करने के लिए कम्पनियाँ कोल्डस्टोर, ट्रॉसपोर्ट, माल-गोदाम और मण्डियों समेत सरकारी ढाँचे के समान्तर एक नया ढाँचा खड़ा कर रही हैं। रिलायंस ने पंजाब में राज्यस्तरीय वितरण केन्द्र खोलने के लिए मानसा जिले के बनवाला गाँव में 40 एकड़ जमीन, भटिण्डा में 3 एकड़ जमीन, बरनाला और मलौठ में 5 एकड़ जमीन खरीदी है। 2008 तक वह 20 हाइपर मार्ट खोलेगी।

द्ध3ऋ छोटे व्यापारियों और छोटे दुकानदारों के व्यापक विरोध को देखते हुए रिलांयस अब मोबाइल पर खुदरा बिक्री की योजना बना रही है। इसके जरिए रिलायंस के साढ़े तीन करोड़ टेलीफोन उपभोक्तओं को ताजी सब्जियों से लेकर कपड़े, खिलौने और इलेक्ट्रानिक साजो-सामान सहित कुल 1 लाख उत्पाद घर बैठे मुहैया करवाये जायेंगे। पहले चरण में लगभग 1200 कस्बों में यह सुविधा दी जायेगी जिसके जरिए पहले साल में यह कम्पनी 4 हजार करोड़ के कारोबार की उम्मीद कर रही है।

द्ध4ऋ हिन्दुस्तान यूनी लीवर, मेरीको और डाबर ने एक अन्य रणनीति अपनायी है। हिन्दुस्तान यूनीलिवर ने 'सुपर वेल्यू स्टोर', मेरीको ने 'मेरा' और डाबर ने 'परिवार' के नाम से अपनी खुदरा दुकानों कीश्रृंखला शुरू की है जिसमें वे छोटे किराना दुकानदारों को भी शामिल करेंगे, अगर वे दुकानदार उनके उत्पादों को अपनी दुकान में प्रमुखता से प्रदर्शित करने की व्यवस्था करें। कम्पनियों का दावा है कि इससे उनकी बिक्री 20% तक बढ़ेगी है।

जाहिर है कि सरकार और बड़ी कम्पनियों को विरोध-प्रदर्शनों की कोई परवाह नहीं है। वे किसी भी कीमत पर खुदरा बाजार में घुसपैठ के लिए आमादा हैं।

हमारे देश में खुदरा क्षेत्र कृषि के बाद दूसरा सबसे बड़ा रोजगार पैदा करने वाला क्षेत्र है। 4 करोड़ परिवार छोटी दुकानों, खोमचों, ठेलों और छोटे किराना कारोबार के दम पर अपना पेट भर रहे हैं। रिलायंस और वालमार्ट जैसी बड़ी देशी-विदेशी कम्पनियों के खुदरा बाजार में उतरने और उनके ऊपर सरकारी नियन्त्रण के खत्म हो जाने के बाद छोटी पूँजी वाले दुकानदार और व्यापारी उनका मुकाबला नहीं कर पायेंगे, यह तय बात है। अधिकांश तो पूरी तरह उजड़ जायेंगे और दिहाड़ी मजदूरी करने के लिए बाध्य होंगे। उनकी निश्चित जीविका नहीं रह जायेगी। जो किसी तरह बच जायेंगे वे उनकी छोड़ी गयी जूठन पर पलने के लिए मजबूर होंगे। छोटे व्यापारी और दुकानदार इस बात को जानते हैं इसलिए वे सरकार से 'शिक्षा' लेने को तैयार नहीं हैं। सरकार भी जानती है कि ''मामला प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का नहीं है बल्कि छोटी मछली बनाम बड़ी मछली का है'' द्धवाणिज्य मन्त्री कमलनाथ की स्वीकारोक्तिऋ।

सच्चाई यह है कि एक छोटे दुकानदार को आज जितना खतरा वालमार्ट से है, उतना ही रिलायंस और भारती से भी है। देशी-विदेशी कम्पनियाँ एक दूसरे से गठजोड़ करके उन्हें निगलने के लिए तैयार हैं। वैश्वीकरण और खुले बाजार की नीति आने के बाद उनके चरित्र में कोई बुनियादी ¤र्क नहीं रह गया है। देशी होने के नाते रिलायंस उनके ऊपर कोई रहम नहीं करने जा रही है।

बड़े घरानों के खुदरा बाजार में उतरने से देश में समृ) आयेगी यह तर्क उस खाये-अघाये उपभोक्ता वर्ग के लिये तो ठीक हो सकता है जो अपनी सनक ये पूरा करने के लिये आज देश को भी बेच डालने को तैयार है लेकिन देश के उन छोटे दुकानदारों, व्यापारियों, मजदूरों, किसानों के लिए कोई अर्थ नहीं रखता जिनकी हालत पहले से भी बदतर

हो जायेगी। गरीबी, भुखमरी और जलालत के मारे इस देश के मजदूर और किसान तो पहले ही आत्महत्या कर रहे हैं। इन नीतियो के लागू होने के बाद हो सकता है कि छोटे व्यापारी और दूकानदार भी आत्महत्या के लिए मजबूर जायें।

ब्रिटिश राज में उनकी दलाली करके पैदा हुआ भारत का बड़ा व्यापारी वर्ग अकाल और भुखमरी के दौरान जमाखोरी और कालाबाजारी करके दौलत बनाता रहा है। अपने मुनाफे के लिये उसे उन लोगों का विनाश करने में कोई देर नहीं लगेगी जिनके बूते उसका विकास हुआ। 1940 में जब बंगाल और उड़ीसा के अकाल में हजारों लोग भूख से मर रहे थे तो भारत का बड़ा व्यापारी वर्ग अनाज का निर्यात करके अपनी जेबें भर रहा था। इस देश की जो बड़ी कम्पनियाँ अपने नायदे के लिए विदेशी कम्पनियों के साथ मिलकर देश की पीठ में छुरा घोंपने को तैयार है उन्हें भला एक छोटे व्यापारी की जिन्दगी की क्या परवाह हो सकती है?

छोटे व्यापारी और दुकानदारों को इस संकट से निपटने के लिए खुद को एक लम्बी लड़ाई के लिये तैयार करना होगा। बड़ी खुदरा कम्पनियों के रहते उनका बचना सम्भव नहीं है। उन्हें किसानों-मजदूरों के साथ मिलकर यह लड़ाई लड़नी होगी। एक नयी आजादी की उनकी यह लड़ाई ही उनके लिए रोजगार और सम्मान जनक जिन्दगी की गारण्टी करेगी।

गोआ में चुनाव : फिर खुली लोकतन्त्रा की पोल

साउथ गोआ लोकसभा सीट, जहाँ कभी 65 फीसदी तक मतदान हुआ करता था, 31 अक्तूबर को हुए उपचुनाव में वहाँ केवल 35 फीसदी वोट पड़े। अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी भाजपा के डॉ. मेसक्वेल को हराकर चुनाव जीतने वाले काँग्रेस के फान्सिको सारडिन्हा को कुल 1,18,583 वोट मिले जो कुल वोटों का केवल साढ़े बाइस फीसदी ही बैठते हैं।

वैसे तो यह तथ्य ही भारतीय लोकतन्त्र के पराभव और क्षरण का स्पष्ट प्रमाण है। लेकिन कुछ उत्कट आशावादी इसके बावजूद कहेंगे कि ''यही क्या कम है कि इतने वोट पड़े'', कि ''आप तो बस हमेशा खाली गिलास ही देखते हैं।'' वे कृपया आगे की चुनाव-गाथा पर ध्यान दें।

चुनाव में वोट डालने वाले ये साढ़े बाइस फीसदी लोग कौन हैं? क्या भारतीय लोकतन्त्र में उनकी गहरी आस्था है? सब जानते हैं कि देश के ऊपरी वर्गों और मध्यम वर्गों के अधिकांश लोग तो बहुत पहले ही वोट डालना बन्द कर चुके हैं। इस बार जिन 30 फीसदी और लोगों ने वोट नहीं डाला वे निश्चय ही ऐसे लोग होंगे जो सभी पार्टियों के स्वार्थी राजनीतिज्ञों द्वारा बार-बार दिये गये झूठे आश्वासनों और छलावों से निराश हो चुके हैं। लेकिन जिन्होंने इतना होने पर भी वोट डालने की जहमत उठायी वे ''परम वन्दनीय'' वोटर कौन हैं?

इसके खुलासे के लिए प्रस्तुत है, 3 नवम्बर 2007 के हेराल्ड में प्रकाशित यह खबर : ''सेंसेक्स भले ही 20,000 की जादुई ऊँचाइयों को छू रहा हो लेकिन मार्मुगोवा के चुनावों का 'राजनीतिक सूचकांक' पाँच महीने के भीतर 500 से गिरकर 50 रह गया है।

''आर्थिक शब्दावली को अनुवाद करके बात करें तो मार्मुगोवा की विधान सभा सीट के लिए जहाँ मई में चुनावों के समय किसी खास उम्मीदवार को वोट देने के लिए वोटरों को 500 रुपये ''उपहार स्वरूप'' दिये गये थे, 31 अक्तूबर को हुए उपचुनाव में उन्हें केवल 50 रुपये ही प्राप्त हो सके।

''बहुत सारे वोटरों में वोट की कीमतों में आयी इस भारी गिरावट से असन्तोष व्याप्त है। ये वोटर वोटों के सौदे को पाप नहीं समझते।

''बैना के एक वोटर ने कहा, 'हाल के विधान सभा चुनाव के समय एक खास पार्टी के उम्मीदवार को वोट देने के लिए मुझे 500 रुपये दिये गये थे। क्योंकि यह चुनाव सांसद चुनने के लिए हुआ बड़ा चुनाव था, मुझे उम्मीद थी कि इस बार वोट के रेट कम से कम 700 रुपये तक तो मिलेंगे ही। लेकिन मुझे इस बात से बहुत सदमा लगा कि मुझे सिर्फ 50 रुपये दिये गये, न दारू, न खाना, और न ही पोलिंग बूथ तक हो जाने के लिए कोई सवारी का इन्तजाम।''

''मार्मुगोवा का एक नामी गिरामी नेता मार्मुगोवा संसदीय क्षेत्र की एक महिला वोटर को खुलेआम 50 रुपये देता देखा गया। वह उसे अपनी पार्टी को वोट देने के लिए पटा रहा था।

''बाहर से आकर बसे बहुत से मजदूरों ने जिन्होंने एक खास उम्मीदवार को अपनी मर्जी से अपना वोट बेचा

था, अपने फैसले को सही ठहराते हुए कहा–''चुनाव राजनीतिक पार्टियों और नेताओं से फायदा उठाने का हमारे लिए बिरला मौका है। एक बार चुनाव जीत जाने के बाद नेता 5 साल तक तो हमारे पास फिर आयेंगे नहीं।'' वास्को से येलप्पा ने बताया।

''एक पार्टी कार्यकर्त्ता ने जो अपनी पार्टी की ओर से वोटरों को पैसा बाँटने का उस्ताद है, हेराल्ड के संवाददाता के सामने यह खुलासा किया कि इस उपचुनाव के दौरान वोटरों में वितरण के लिए उन्हें केवल 5 लाख रुपया मिला था। ''परिमाण स्वरूप हमारा बजट टाइट था और हम वोटरों को भारी मात्रा में पैसा बाँटने में असमर्थ थे। दरअसल, हम उन्हें पोलिंग बूथ तक ले जाने की भी व्यवस्था नहीं कर सके और न ही कोई अन्य लालच दे सके।''

धान्य है यह लोकतन्त्र!

साम्प्रदायिक राजनीति : हम्माम में सब नंगे

राजनीति में अपने पदार्पण के साथ गाँधी खानदान के बारे में डींग हाँकते हुए राहुल गाँधी ने कहा था–''यदि केन्द्र में गाँधी परिवार सत्ता में होता तो बाबरी मस्जिद ढहायी नहीं गयी होती।''

राहुल गाँधी के इस हास्यास्पद दावे की कलई खोलने और देश की जनता को तथ्यों से वाकिफ करवाने के लिए हम यहाँ नागपुर के भूतपूर्व काँग्रेसी सांसद बनवारी लाल पुरोहित द्वारा एक प्रेस कान्फ्रेन्स में दिये गये बयान को पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

''1989 में राजीव गाँधी ने आर. एस. एस. के तत्कालीन सरसंघ चालक बाला साहेब देवरस के पास अपना सन्देशवाहक भेजा था। वे मन्दिर निर्माण का रास्ता साफ करने के बदले चुनाव में आर. एस. एस. का समर्थन चाहते थे।

''मैंने संसद में उस समय राम मन्दिर का पक्ष लिया था। राजीव गाँधी ने मुझसे पूछा था कि क्या मैं आर. एस. एस. के चोटी के नेताओं को जानता हूँ? जब मैंने उन्हें बताया कि हाँ, मैं जानता हूँ तो उन्होंने अपने दूत को देवरस से मिलवाने के लिए कहा। उन्होंने पूछा कि अगर राम मन्दिर के निर्माण की गारण्टी दी जाये तो क्या संघ चुनाव में काँग्रेस को समर्थन देगा? मैंने कहा कि हाँ, करेगा। इस तरह देवरस से मुलाकात का निर्णय हुआ। देवरस से मेरी मुलाकात का भाँडा फूटने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए पूर्व केन्द्रीय मन्त्री भानु प्रकाश सिंह को दूत बनाकर भेजने का निर्णय लिया गया।

''बूटा सिंह को कहा गया कि वे भानुप्रकाश सिंह को समझा दें कि उन्हें देवरस से क्या बात करनी है। देवरस के साथ बैठक के लिए स्थानीय आर. एस. एस. नेता विठ्ठल राव तलातुले का घर निश्चित किया गया। इस बैठक में जो बातचीत हुई उसका राष्ट्रीय घटनाओं पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। भानुप्रकाश सिंह ने देवरस को मन्दिर के शिलान्यास से सम्बन्धित राजीव गाँधी की योजनाओं के बारे में बताया जिससे सहमत होकर देवरस ने आर. एस. एस. के समर्थन का वायदा दिया।

''देवरस की एक बैठक दिल्ली में बूटा सिंह के साथ करने पर सहमति बनी। लेकिन तभी देवरस बीमार पड़ गये और उनकी जगह राजेन्द्र सिंह भानुप्रकाश सिंह से मिलने आये। बैठक में यह सहमति बनी कि चुनाव में आर. एस. एस. के समर्थन के बदले राम मन्दिर का शिलान्यास करने की इजाजत दी जायेगी।

''इसी योजना के अनुरूप शिलान्यास हुआ लेकिन कुछ मुस्लिम नेताओं ने इसके बाद राजीव गाँधी से मुलाकात की और उन्हें आगाह किया कि इससे दंगे भड़क सकते हैं। परिणामस्वरूप राजीव गाँधी ने निर्माण कार्य रोकने का आदेश दिया और इस तरह पूरी योजना चौपट हो गयी।

''यही वजह थी कि आर. एस. एस. ने काँग्रेस का समर्थन नहीं किया और वह अगला चुनाव हार गयी।''

जाहिर है कि भाजपा हो या काँग्रेस या पूँजीपति वर्ग की कोई दूसरी पार्टी, संविधान में लिखे धर्म निरपेक्षता जैसे शब्द उनकी कुर्सी के आगे कोई महत्त्व नहीं रखते। भाजपा इस खेल को खुलकर खेलती है जबकि बाकी पार्टियाँ छुप-छुप कर। बाबरी मस्जिद विध्वंस, 1984 के सिख विरोधी दंगे, 1993 के मुम्बई दंगों पर श्रीकृष्ण आयोग की रिपोर्ट और गुजरात में मुसलमानों का कत्ले आम सहित ऐसी कितनी ही घटनाएँ इस बात के प्रमाण हैं कि संविधान की दुहाई देने वाली पार्टियाँ कुर्सी के रास्ते में आने पर संविधान को भी ठोकर मार देती हैं।

उत्तार प्रदेश सरकार की पूँजीपतियों पर मेहरबानी : परिवहन निगम के विनाश का फैसला

❑ बाबूराम

24 दिसम्बर 2007 को उत्तर प्रदेश सरकार ने जनता की सम्पत्ति को पूँजीपतियों के हवाले करने से सम्बन्धित ैसला किया। मुख्यमन्त्री मायावती ने 'नयी आर्थिक नीति' घोषित करते हुए कहा है कि ''उत्तर प्रदेश में कार्यरत सभी सरकारी उपक्रमों के र्सि 11 ीसदी से 49 ीसदी शेयर ही सरकार अपने पास रखेगी और बाकी शेयर निजी उद्यमियों को सौंपा जाएगा।'' मायावती का यह भी कहना था कि ''उन उपक्रमों का प्रबन्धन भी निजी उद्यमियों को ही सौंपा जायेगा।''

वैसे तो पूरे देश के कल-कारखानों, ैक्ट्री-खदानों, जल-जंगल, सब कुछ पूँजीपतियों के हवाले किया जा रहा है। पहले तो कोर्ट ने पिछले वर्ष से कम रेट घोषित करके गन्ना किसानों के हितों पर चोट पहुँचायी। अब राज्य सरकार ने सरकारी-सहकारी चीनी मिलों को बेचने का ैसला कर लिया। निजी चीनी मिल-मालिकों ने किसानों के पिछले साल के गन्ने का भुगतान लटकाये रखा और अब पिछले वर्ष के रेट पर बकाये का भुगतान करने से इन्कार कर दिया है। गंगा एक्सप्रेस-वे के लिए सैकड़ों गाँवों के किसानों की जमीन अधिग्रहित करने का ैसला भी राज्य सरकार ने इसी महीने लिया है।

दिसम्बर 2007 का यह महीना र्सि किसानों के लिए ही अनिष्टकारी साबित नहीं हुआ बल्कि कर्मचारियों के सिर पर भी बिजली गिरी है। 12 दिसम्बर और 14 दिसम्बर को जारी अधिसूचनाओं द्वारा उत्तर प्रदेश परिवहन निगम को निजी पूँजीपतियों को सौंपने का पुख्ता इन्तजाम कर दिया गया है।

पिछले चार वर्षों से लगातार मुनाफा देने और तीन हजार करोड़ रुपये की परिसम्पत्ति वाले उत्तर प्रदेश परिवहन निगम को उत्तर प्रदेश सरकार ने आदेश दिया है कि वह अपने लिए आरक्षित मार्गों पर निजी क्षेत्र को भी 50 ीसदी हिस्सेदारी दे। यह भी तब जब उत्तर प्रदेश की लगभग 85 ीसदी सड़के पहले से ही निजी क्षेत्र की बसों के लिए निर्धारित हैं जिन पर यू. पी. रोड़वेज की बसें नहीं चलती हैं। ध्यान रहे कि उत्तर प्रदेश परिवहन निगम अपनी 7,100 बसें उत्तर प्रदेश के र्सि 15 ीसदी मार्गों पर संचालित करता है और िर भी उत्तर प्रदेश सरकार को प्रतिवर्ष 200 करोड़ का राजस्व देता है। दूसरी ओर निजी क्षेत्र के बस ऑपरेटर प्रदेश के 85 ीसदी मार्गों पर अपनी बसें चलाने के बावजूद र्सि 145 करोड़ का राजस्व ही उत्तर प्रदेश सरकार को देते हैं और सरकार को अरबों रुपये का चूना लगाते हैं।

उत्तर प्रदेश परिवहन विभाग में 36,000 से 40,000 तक लोग रोजगार पाये हुए हैं यानि हरेक बस पर 7.5 व्यक्तियों को रोजगार मिला हुआ है जिन्हें औसतन प्रति माह 9000 रुपया वेतन के रूप में मिलता है। दूसरी ओर निजी क्षेत्र के ऑपरेटर अपने ड्राइवरों और कन्डक्टरों को हजार-दो-हजार रुपये थमा देते हैं। परिणाम: ये ड्राइवर और कन्डक्टर सवारियों के साथ बदसलूकी करके अपनी दिहाड़ी पूरी करते हैं।

इतना ही नहीं, राज्य सरकार ने 14 दिसम्बर को अधिसूचना जारी करके उत्तर प्रदेश परिवहन निगम के बस अड्डों को निजी क्षेत्र को लीज पर देने का रमान जारी कर दिया। इस ैसले से अब बस अड्डों पर उत्तर प्रदेश परिवहन निगम का नियन्त्रण और प्रबन्धन समाप्त हो जायेगा। वह किसी पूँजीपति की निजी सम्पत्ति का हिस्सा हो जायेगा। यू. पी. रोडवेज को अपने ही बस अड्डों पर अपनी बसे खड़ी करने के लिए 50 रुपया प्रति बस के हिसाब से प्रतिदिन 37,500 और प्रति वर्ष 13,68,75000 रुपये निजी मालिकों को देना पड़ेगा। इस प्रकार उत्तर प्रदेश परिवहन निगम अगले एक-दो साल में किसी पूँजीपति की सम्पत्ति का हिस्सा बन जायेगा और 40,000 कर्मचारियों के परिवार दाने-दाने को मोहताज होकर सड़क पर आ जायेंगे।

निजीकरण की अपनी कारगुजारी के लिए सरकार ने एक लुभावना नाम दिया है-'निजी सार्वजनिक भागीदारी'

लेकिन सरकार जिस तरह सरकारी सम्पत्ति में पूँजीपतियों को हिस्सेदार बना रही है, वैसे ही क्या वह खुद भी निजी पूँजीपतियों के मुनाफे में चलने वाले किसी उद्योग में साझेदारी कर सकती है? दरअसल यह सब निजीकरण जैसी बदनाम और घृणित कार्रवाई के लिए शब्द जाल है। मकसद वही है–जनता की सम्पत्ति को पूँजीपतियों के हवाले करना। इस काम के लिए भाजपा और काँग्रेस ही नहीं बल्कि सपा-बसपा सहित पक्ष-विपक्ष की सभी पार्टियाँ पूँजीपतियों के साथ नापाक गठबन्धन कायम कर चुकी हैं। उत्तर प्रदेश की मायावती सरकार भी भला क्यों पीछे रहती।

हालाँकि उत्तर प्रदेश परिवहन निगम के कर्मचारी और अधिकारी संयुक्त संघर्ष मोर्चा बनाकर निजीकरण के इन घृणित प्रयासों का विरोध कर रहे हैं। लेकिन उनके इस आन्दोलन में राज्य के अन्य कर्मचारी संगठनों का समर्थन अब तक नहीं के बराबर है जिससे उनकी लड़ाई को पर्याप्त ऊर्जा नहीं मिल पा रही है। आन्दोलनकारी कर्मचारी-अधिकारी अपनी एकजुटता बनाये रखते हुए, जनता के दूसरे हिस्सों को भी अगर अपने इस आन्दोलन से जोड़ पाते हैं, तो निजीकरण विरोधी इस आन्दोलन को अपेक्षित गति मिल सकेगी।

लेकिन यूनियनों की वर्तमान दशा को देखते हुए ऐसा कर पाना उनके लिए बहुत बड़ी चुनौती है। पिछले 15 वर्षों में एक-एक कर सरकारी विभाग टूटते रहे और टुकड़े-टुकड़े में उनका निजीकरण किया जाता रहा। यूनियनों ने इसके खिलाफ रस्मी विरोध के बजाय जनता के बड़े हिस्से को साथ लेकर एकजुट संघर्ष चलाया होता तो आज उनकी ऐसी स्थिति नहीं होती।

लेकिन अन्याय के लिखाफ लड़ाई हर हाल में जरूरी है। यह यूनियनों के लिए अतीत की गलतियों को सुधारने का एक मौका है।

पास्को के खिलाफ प्रतिरोध

पिछले 20 अक्टूबर को दक्षिण कोरिया की विराट इस्पात कम्पनी पास्को के शीर्ष अधिकारियों के साथ बातचीत के बाद उड़ीसा के मुख्यमन्त्री नवीन पटनायक ने उन्हें आश्वस्त किया कि सरकार इस परियोजना के प्रति गम्भीर है और इसके शुरू होने में पूरी सहायता करने के प्रति वचनब) है। इसी के बाद कम्पनी के मुख्य कार्यकारी अधिकारी ने यह घोषणा की कि–अप्रैल 2008 को अपनी 40 वीं वर्षगाँठ पर कम्पनी भारत में अपने कारखाने के निर्माण का काम शुरू करेगी।

51 हजार करोड़ रुपये के अब तक के सबसे बड़े विदेशी निवेश और एक करोड़ बीस लाख टन क्षमता वाले इस कारखाने के शुरू से ही वहाँ की जनता को प्रबल विरोध का सामना करना पड़ रहा है। यही कारण है कि इस कारखानें के लिए भूमि अधिग्रहण और खनन के पट्टे का काम अभी तक खटाई में पड़ा हुआ है।

अक्टूबर में ही जगतसिंहपुर इलाके के गाँववासियों ने पास्को के चार अधिकारियों को बन्धक बना लिया था जिन्हे बाद में रिहा कर दिया गया।

पास्को प्रतिरोध संग्राम समिति ने कहा है कि वह किसी भी कीमत पर इस परियोजना को शुरू नहीं होने देगी। गाँव के निवासी महिलाओं और बच्चों सहित पिछले अढ़ाई वर्षों से परियोजना के खिलाफ नाकेबन्दी कर रहे हैं। अब इस लड़ाई में छात्रों-नौजवानों को भी शामिल करके इसे और व्यापक बनाने का निर्णय लिया गया है।

सी.पी.एम. : पार्टी के दिन पूरे हुए

द्धअशोक मित्रा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के एक वरिष्ट नेता है। वे पश्चिम बंगाल के वित्त मन्त्री और राज्य सभा सांसद रह चुके हैं।

14 नवम्बर 2007 को आनन्द बाजार पत्रिका में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने पार्टी की वर्तमान दशा पर अपनी बेबाक राय दी।

उनका मानना है कि कुछ दशक पहले की माकपा से उसकी आज की स्थिति की तुलना करें तो हम कह सकते हैं कि ''तुम वो नहीं जो पहले कभी थी।'' आज माकपा किस रास्ते पर चल रही है, उसकी गति और नियति क्या है, इसे पार्टी के एक वरिष्ट नेता की जुबानी पाठकों तक पहुँचाने के लिए प्रस्तुत हैं, लेख के कुछ अंशऋ।

''...मेरी आत्मा अन्तिम दम तक मुझे इस अपराधा का अहसास कराती रहेगी कि पिछले दो सप्ताह तक प. बंगाल के नन्दीग्राम में जो कुछ हुआ उस पर मैं चुप रहा।

''...सरकार के पास राजनीतिक मधयस्थता या प्रशासनिक इन्तजाम के जरिये पिछले 11 महीनों के दौरान इन आभागे लोगों को अपने घरों को वापस बसाने का पर्याप्त अवकाश था। लेकिन एकतरुा धामकियों, पुलिस कार्यवाही और अन्धााधुन्धा गोलीबारी का त्रासदी में अन्त होना ही था। ...बेघर लोगों ने 11 महीनों तक जो अकथनीय व्यथा सही, उसकी पूरी जिम्मेदारी सरकार के कन्धाों पर है।...नन्दीग्राम कोई पहली घटना नहीं थी। सिंगूर की घटना इससे पहले हो चुकी थी।

''...11 महीनों तक पूर्ण शान्ति और निष्क्रियता बरती गयी। कोई राजनीतिक या प्रशासनिक विकल्प नहीं तलाशे गये। अचानक एक नया षड्यन्त्र रचा गया। जैसा कि गृह सचिव द्वारा बार-बार स्वीकार किया गया है, पुलिस को निष्क्रिय रहने के आदेश दिये गये थे। प्रदेश भर से हत्यारे जुटाये गये। सत्तारूढ़ दल के कार्यकर्ताओं ने सभी दिशाओं से नन्दीग्राम को घेर लिया। पंछी, मधुमक्खी, पतंगे, पत्रकार किसी को भी इस घेरे को तोड़ने की इजाजत नहीं थी। इसके बाद सत्तारूढ़ दल की गुण्डावाहिनी ने हमला शुरू किया। नन्दग्राम के लड़ाकुओं को पीछे धाकेला, उन्हें पीट-पीटकर भुर्ता बना डाला और हार मनवा ली। जिन्हें घर छोड़कर भागना पड़ा था, वे वापस आ गये, लेकिन जिस क्षण वे वापस आये, उसी क्षण एक समानान्तर और विपरीत घटनाक्रम शुरू हो गया। नये सिरे से घरों में आग लगा दी गयी और जो लोग नन्दीग्राम के अन्दर थे, उन्हें बदले के जबरदस्त उत्सव के बीच मौत के घाट उतारा गया। वर्तमान में नन्दीग्राम का आसमान शरणार्थियों की नयी खेप की चीखों से गूँज रहा है।

''...90 ीसदी पार्टी सदस्य 1977 के बाद पार्टी में भर्ती हुए हैं और 70 ीसदी 1991 के बाद। वे पार्टी के त्याग और कुर्बानी के इतिहास से अपरिचित हैं। उनके लिए क्रान्ति और समाजवाद के प्रति वैचारिक प्रतिब)ता महज एक पुरानी पड़ चुकी किंवदन्ती या सुनी सुनाई बातें हैं। विकास ही आज की नयी विचारधारा है। इसलिए पार्टी से जुड़े बहुत सारे लोग व्यक्तिगत विकास के पीछे पड़े हुए हैं। वे निजी ाायदे के लिए पार्टी में आये हैं, कुर्बानी देने के लिए नहीं। विशेषाधिकारों को हासिल करने का एक बढ़िया तरीका है–मालिकों की चापलूसी करो। पार्टी चापलूसों और दरबारियों के खुले अखाड़े का रूप ले चुकी है। इससे भी बुरी बात है कि पार्टी में 'असामाजिक तत्वों' का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है। हर राजनीतिक पार्टी को विभिन्न कारणों से 'असामाजिक तत्वों' को सरंक्षण देना पड़ता है। वे पृष्ठभूमि में रखे जाते हैं और जरूरत के समय तत्काल उन्हें ड्यूटी पर लगा दिया जाता है। 1970 के दशक में ये असामाजिक तत्व राज्य की काँग्रेस पार्टी के ऊपरी पायदानों तक अपनी पैठ बना चुके थे। मुझे आशंका है कि वही नियति अब कम्युनिस्ट पार्टी की भी होने वाली है।

''...वर्तमान शासक पार्टी के लिए ममता बनर्जी सबसे सुरक्षित बीमा है। शहरी और ग्रामीण जनता का वामपन्थी पार्टी से मोहभंग हो चुका है लेकिन जब वे यह कल्पना करते हैं कि उसकी जगह ममता बनर्जी सत्ता में आ गयी है तो इस सम्भावना के आतंक मात्र से वे वाम मोर्चे को वोट दे देते हैं। लेकिन अगर एक दिन ऐसी स्थिति आ जाती है कि वाममोर्चा सरकार के नेताओं की अयोग्यता और अकर्मण्यता से वे बेहद मायूस हो जायें और यहाँ तक सोचने को मजबूर हो जायें कि वास्तव में दोनों के बीच कोई ाक नहीं रह गया है और सवाल बस नागनाथ और साँपनाथ में से किसी एक को चुनने का है–तो वह दिन सचमुच विनाशकारी होगा।''

नन्दीग्राम : जनता के सपने अभी जिन्दा हैं

❑ सुष्मिता

आपने बु)देव के चेहरे की चमक देखी होगी, जब वे घोषणा कर रहे थे कि नन्दीग्राम के लोगों को उन्हीं की भाषा में जवाब दे दिया गया है। यह चमक ठीक वैसी ही मालूम पड़ती थी, जैसे इराक और अ्गानिस्तान पर कब्जे की घोषणा करते हुए जार्ज बुश के चेहरे की चमक। ्र्क केवल इतना ही था कि बु)देव के चेहरे पर अपने ही राज्य के लोगों की हत्या की चमक थी और जार्ज बुश दूसरे देशों के लोगों की हत्याओं पर मुस्करा रहे थे। यदि आपको लगे कि 2002 में नरेन्द्र मोदी भी शायद कु्छ इसी तरह मुस्करा रहे थे जब वह गुजरात में नरसंहारों को जायज ठहराने के लिए क्रिया के विपरित प्रतिक्रिया के सि)ान्त का हवाला दे रहे थे तो इसमें कोई गलती नहीं है। चेहरे एक-दूसरे में घुल-मिल से गये हैं।

अन्ततः नन्दीग्राम को ्तह कर लिया गया। एक भयानक नरसंहार...जिसने सैकड़ों लोगों की जान ली, दूसरे सैकड़ों अब भी लापता हैं, दर्जनों महिलाओं का सी पी एम के झंडे तले बलात्कार हुआ और अनेक मकान जला दिये गये। गाँववालों का कहना है कि दूसरे दौर की हिंसा में करीब 150 लोगों को मार दिया गया। लगभग 2000 लोग अब भी गायब हैं। घटना के दिन करीब 550 लोगों को रस्सी से बाँधकर खेजुरी ले जाया गया जहाँ इनको सी पी एम ने ढाल के रूप में इस्तेमाल किया ताकि नन्दीग्राम के लोग जवाबी कार्रवाई ना कर सकें। तमाम्ु ोतों का कहना है कि इस हत्या अभियान में पेशेवर अपराधियों और डकैतों का सहारा लिया गया था। नन्दीग्राम को ्तह कर लेने की जिम्मेदादी जिस माकपाई गुण्डा-वाहिनी को दी गयी थी, उसका नेतृत्व उसके चार सांसद कर रहे थे और उसमें शामिल थे तपन घोष एवं शकु्र अली जैसे कु्ख्यात अपराधी। ये दोनों 2001 में छोटा अंगारिया हत्याकाण्ड में सीवीआइ द्वारा घोषित ्रार अपराधी हैं। कहा जा रहा है कि इस हमले की तैयारी कई महीनों से खेजुरी में चल रही थी। इसके लिए रानीगंज, आसनसोल, कोलबेल्ट, गरबेटा और केशुपुर से गुण्डों को भाड़े पर लाया गया। इस पूरे अभियान का संचालन सी पी एम के उच्च नेतृत्व के हाथों में था। यह पूरी तरह गुप्त तरीके से चलाया जा रहा था।

हमने सुना कि नन्दीग्राम के लोगों ने अपनी करतूतों की पाई-पाई चुका दी है।

हमने सुना कि महिलाओं द्वारा मेधा पाटकर को अपना पिछवाड़ा दिखाना समाजवाद लाने के लिए जरूरी था।

हमने यह भी सुना कि नन्दीग्राम की महिलाओं की देह में सीपीएम के लाल झंडे गाड़ दिये गये। हमने सुना और शर्मसार हुए। हमने उजाले की सम्भावनाओं को अँधेरे के सौदागरों के हाथों बेच देने वालों के बारे में सुना। हमने उस मुख्यमन्त्री के बारे में सुना जो 150 लोगों के कत्ल के बाद सुगन्धित पानी से हाथ धोकर ि्ल्मोत्सव की तैयारियों में जुट गया।

नन्दीग्राम को ्तह कर लिया गया है...और ि्जा में विजय के उन्माद से भरे नारों और गीतों का जश्न है। सहमा. ..वीरान...राख...राख नन्दीग्राम। वह नन्दीग्राम जो हमारी उम्मीदों का सबसे ताजा मरकज है।

नन्दीग्राम को ्तह करने की पृष्ठभूमि लगभग एक साल से बनायी जा रही थी। सिंगूर के सेज से सबक लेकर नन्दीग्राम के लोग पहले से ही सचेत थे। जुलाई, 2006 से ही नन्दीग्राम में केमिकल हब के लिए 28,000 एकड़ जमीन के अधिग्रहण की बात हवा में थी। नन्दीग्राम के लोगों ने अपनी जमीन बचाने की लड़ाई शुरू कर दी। पिछले मार्च में भी सीपीएम ने नन्दीग्राम पर कब्जा जमाने का भरसक प्रयास किया। लेकिन वे स्फल नहीं हो सके। दरअसल यह सीपीएम के लिए प्रतिष्ठा का सवाल था। वह नन्दीग्राम की जनता की चुनौती बरदाश्त नहीं कर सकती थी, इसलिए इस बार सीपीएम ने काी साजिश पूर्ण तरीके से हमला संगठित किया। सबसे पहले भूमि उच्छेद प्रतिरोध कमेटी के लोगों के साथ समझौता कराया गया और उसके बाद उन पर हमला किया गया, ताकि वे प्रतिरोध के लिए तैयार नहीं रह सकें। हत्या अभियान के दिन सीपीएम के लक्ष्मण सेठ कह रहे थे, 'मारो, न मरो। विजय कोनार महिलाओं का आह्वान कर रहे थे कि वे 'अपनी साड़ी उठायें और मेधाा पाटकर को अपना पिछवाड़ा दिखायें।' विमान बोस लगातार देश को बता रहे थे–'नन्दीग्राम के लोग हमें रसगुल्ला नहीं खिला रहे थे।' इन्हीं हत्यारे नारों के बीच कोलकाता की

राइटर्स बिल्डिंग में ठहाके गूँज रहे थे और यहाँ के निवासी आश्वस्ति और उल्लास में एक दूसरे को बधाइयाँ देते हुए हाथ मिला रहे थे–'नन्दीग्राम के लोगों को उन्हीं की भाषा में जवाब दे दिया गया है।'

सी.आर.पी.एफ. की तैनाती भी साजिशाना तरीके से की गयी। पहले नन्दीग्राम पर बर्बर हमला किया गया और उसके बाद सी.आर.पी.एफ. को पश्चिम बंगाल की जनता के तमाम विरोधों के बाद तैनात किया गया ताकि वहाँ की जनता को प्रतिरोध करने से रोका जा सके और नन्दीग्राम पर पूरी तरह उनका नियन्त्रण बना रहे। इस पूरी प्रक्रिया में केन्द्र और राज्य दोनों सरकारों के बीच निर्लज्ज सौदेबाजी हुई। केन्द्र सरकार का कोई भी मुख्य अधिकारी नन्दीग्राम में नहीं गया। उसने सी.आर.पी.एफ. की कम्पनी दी और इसके एवज में वामफ्रंट ने नाभकीय करार पर आइ.ए.इ.ए. से बात करने की हरी झण्डी दी। साम्राज्यवाद की चमचागीरी का यह एक और नमूना है।

अब नन्दीग्राम में शान्ति है। एक मरी हुई शान्ति, जो श्मशान में होती है। बस जल्लाद चीख रहा है। जल्लाद नन्दीग्राम के लोगों को तहजीब बता रहा है। वह पूरे देश की जनता को लोकतन्त्र के मायने समझा रहा है। वृन्दा करात और प्रकाश करात मारो-मारो की हत्यारी पुकारों के बीच निर्लज्जतापूर्वक हमें लोकतन्त्र की तहजीब के बारे में बता रहे हैं। हमें कहा जा रहा है कि चूंकि वहाँ बहुमत की सरकार द्वारा यह कदम उठाया गया है इसलिए नन्दीग्राम का हत्या अभियान जायज है। हमें कहा जा रहा है कि नन्दीग्राम पर सवाल उठाने वाले लोग एक चुनी हुई सरकार के खिलाफ साजिश कर रहे हैं। 2002 में नरेन्द्र मोदी की भाषा यही थी या नहीं, क्या हमें यह याद करने की इजाजत है 'कॉमरेडो'? क्या जार्ज बुश की भाषा इससे अलग होती है जब वह इसी लोकतन्त्र का हवाला देकर दुनिया के कमजोर एवं प्रतिरोध करने वाले देशों पर हमला करता है?

सी पी आइ के डी. राजा एवं सीपीएम के प्रकाश करात कह रहे हैं कि चुनी हुई सरकार को नन्दीग्राम में कोई काम नहीं करने दिया जा रहा था। मतलब कि इनके लोकतन्त्र को नन्दीग्राम से खतरा था। तो क्या अब लोकतन्त्र केवल सत्ता द्वारा जनता की हत्याओं को जायज ठहराने का औजार भर रह गया है? क्या सत्ता को आम जनता को उसके घरों से खदेड़ने एवं हत्या करने का अधिकार केवल इसलिए मिल गया है कि तथाकथित रूप से वह चुनी हुई है? यदि इस लोकतन्त्र को नन्दीग्राम के लोगों से खतरा है तो नन्दीग्राम के लोगों को भी यह कहने का अधिकार नहीं होना चाहिए कि यदि यह लोकतन्त्र हमारे जीने के अधिकारों पर पाबन्दी लगाता है तो उन्हें भी इस लोकतन्त्र से खतरा है? सच तो यह है कि नन्दीग्राम की जनता तो अपने जीने के अधिकारों के लिए लड़ रही है जो अन्तिम रूप से अपनी मातृभूमि की रक्षा की भी लड़ाई है।

लेकिन इस हत्या एवं उत्पीड़न का गवाह अकेले नन्दीग्राम नहीं है। साम्राज्यवादी ताकतों ने पूरी दुनिया में नन्दीग्राम की तरह ही अभियान चलाया। पूरे लातिन अमरीका एवं वियतनाम में साम्राज्यवादी लूट को चलाने के लिए वहाँ के स्थानीय आदिवासियों को भयानक हत्या के जरिए उनकी वास्तविक जगहों से भगा दिया गया। कहीं-कहीं उनकी पूरी प्रजाति को ही नष्ट कर दिया गया। भारत में भी साम्राज्यवाद के चमचे उनकी ही रणनीति अपना रहे हैं। वर्षों पहले मुथंगा में सत्ता ने ऐसा ही नरसंहार रचा था। मुथंगा में भी आदिवासियों ने बहादुरी से प्रतिरोध किया। लेकिन अन्ततः सत्ता के योजनाब) और खूनी हमले में उनको कुचल दिया गया। ठीक ऐसी ही प्रक्रिया छत्तीसगढ़ में अपनाई गयी। आदिवासियों में पहले फूट डाली गयी और एक हिस्से को अपने पक्ष में करके उन्हें उनकी जगह से हटाकर कैम्पों में लाया गया जबकि दूसरे हिस्से पर भयानक हमला कर उन्हें भी वहाँ नहीं रहने दिया गया। अब वहाँ राहत शिविरों को ही गाँवों में बदल देने की योजना है। इन सबको अपनी जमीन से उजाड़ दिया गया और उनकी जमीनें बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दी जा रही है। यही प्रक्रिया उड़ीसा, झारखण्ड एवं पश्चिम बंगाल में भी चलाने की साजिशें जारी हैं। पहले मूल निवासियों को उनकी जमीन से हटाओ द्धचाहे जैसे भी होऋ, फिर उसे साम्राज्यवाद के कदमों में अर्पित कर दो। नन्दीग्राम की जनता के साथ भी यही किया गया है। प्रतिरोध करने वाले लोगों को उनकी जगहों से खदेड़ दिया गया है और कहा जा रहा है कि अब वे सी.पी.एम. की मर्जी पर ही वहाँ लौट सकते हैं।

हमें लगता है कि हम अपनी जगह में बहुत ही शान्तिपूर्ण तरीके से बैठे हैं, इसलिए कि अशान्ति तो हमसे दूर कहीं मुथंगा, छत्तीसगढ़ या फिर नन्दीग्राम में है। लेकिन वह हरा साँप हमें अचानक रेंगता हुआ अपनी खाट के नीचे महसूस होता है। वह हरी घासों में इस तरह छिपा होता है कि पता ही नहीं चलता कि वह है कहाँ। ऐसे में हमारे पास अपनी खाट छोड़ने के अलवा कोई विकल्प नहीं रह जाता। वह साँप हरी घास मे छुपा रेंग रहा है। मुथंगा से छतीसगढ़ कलिंग नगर, झारखण्ड, सिंगुर, नन्दीग्राम और न जाने कहाँ-कहाँ।,

सीपीआई–सीपीएम के लोग उन तमाम लोगों, जिनमें

वामपंथियों के पुराने समर्थक बु(जीवी भी शामिल हैं, विकास विरोधी बता रहे हैं क्योंकि वे नन्दीग्राम अभियान का विरोध कर रहे हैं। लेकिन आँकड़ों पर गौर करें तो पता चलता है कि पहले से ही पश्चिम बंगाल में लगभग 55 हजार कारखाने बन्द पड़े हैं। बीमार उद्योगों की संख्या, 1,13,846 है, जो पूरे देश का 45.60 प्रतिशत है। पिछले 15 सालों में लगभग 15 लाख मजदूरों को उनके काम से निकाल दिया गया, जबकि महज 43 हजार 888 लोगों को काम मिला। सरकारी एवं निजी संगठित क्षेत्रों में 1980 में कुल 26 लाख 64 हजार लोग कार्यरत थे। इस दौर में जब औद्योगिकीकरण का मन्त्र पढ़ा जा रहा है, यह गिरकर 22 लाख 30 हजार पर आ गया है। वहीं रजिस्टर्ड बेरोजगारों की संख्या 1977 द्धजब वाम फ्रंट सत्ता में आयीऋ के 22 लाख 27 हजार से बढ़कर 2005 में 72 लाख 27 हजार 117 हो गयी है। यहाँ यह जानना जरूरी है कि 35 साल से अधिक उम्र के लोग इसमें दर्ज नहीं किये जाते।

कृषि संकट ने और बुरे हालात पैदा किये हैं। सीपीएम के नेता भूमि सुधार की डींग हाँकते नहीं थकते। वे तर्क दे रहे हैं कि पश्चिम बंगाल में कृषि ने उद्योग के लिए आधार तैयार कर दिया है। लेकिन इनका ढोंग तब सामने आ जाता है जब पता चलता है कि 1982 में विधानसभा चुनाव एवं 1983 में पंचायत चुनाव के बाद ऑपरेशन बर्गा या बंजर जमीनों को जोतने लायक बनाने का काम भी रुक गया। यही नहीं, 2004 की मानव विकास रिपोर्ट बताती है कि राज्य में 14. 31 प्रतिशत बर्गादार अलग-अलग जगह विस्थापित हो गये हैं। यह प्रतिशत जलपाइगुड़ी में 31.60, कूचबिहार में 30.2, उत्तर दिनाजपुर में 31.42 एवं दक्षिण दिनाजपुर में 30.75 है। यही नहीं पटा दिए गये लोगों का विस्थापन भी लगभग 13.23 है। 1992-2000 में 48.9 प्रतिशत गाँवों के परिवार भूमिहीन हो गये। जहाँ तक खाद्यान्न उत्पादन का सवाल है वह भी पश्चिम बंगाल में कृषि की दयनीय स्थिति को स्पष्ट करता है। 1976 में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन पूरे देश में खाद्यान्न उपलब्धता 402 ग्राम के मुकाबले पश्चिम बंगाल में 412 ग्राम था जो 1999 में 502 ग्राम के मुकाबले 444 ग्राम हो गया। 2001 में यह आँकड़ा पश्चिम बंगाल में 413 ग्राम तक पहुँच गया। द्धस्त्रोत-अजीत नारायण बसु, पश्चिम बंगाल की अर्थनीति एवं राजनीतिऋ यह कृषि के भयानक संकट को स्पष्ट करता है।

विकास की जिस अवधारणा पर आज सीपीएम अमल कर रही है, वह मूलत: साम्राज्यवाद के हित में अपनायी जाने वाली अवधारणा है। यह कृषकों को और गहरे संकट में धकेल देगी। इसके साथ ही साथ यह राज्य में और भयानक लूट को जन्म देगी। उपजाऊ जमीनों के भयानक पैमाने पर अधिग्रहण से खाद्यान्न उत्पादन में और गिरावट होगी तथा एक बड़ी जनसंख्या और बदहाली में जियेगी।

लेकिन नन्दीग्राम ने स्पष्ट कर दिया है कि यह सरकार अपनी साम्राज्यवाद परस्त नीति के खिलाफ उठने वाली हरेक आवाज को खूनी पंजों से मसल देगी। सीपीएम ने अपने तमाम विपक्षियों के साथ यही भूमिका निभायी है। इनके खिलाफ खड़ी होने वाली तमाम ताकतों को शुरू से ही भयानक सशस्त्र दमन का शिकार होना पड़ा है। सीपीएम ने कभी भी अपने खिलाफ विपक्ष को पनपने नहीं दिया। 30 साल की उसकी सफलता का यही राज है। पश्चिम बंगाल में वही विपक्ष में खड़े रह सकता है, जो सीपीएम की गुण्डावाहिनी का प्रतिरोध कर सके। जमाते इस्लामी, ममता बनर्जी और वैसे ही अन्य विरोधी उनके लिए कोई चुनौती नहीं थे लेकिन सीपीएम ने बार-बार कहा कि नन्दीग्राम में हिंसा इसलिए हुई चूँकि वहाँ माओवादी थे। मतलब यह कि अगर वे नहीं होते तो शायद सीपीएम शान्तिपूर्ण तरीके से अपना पूरा काम निबटा लेती। बहरहाल, यह महत्त्वपूर्ण है कि विपक्षहीन बंगाल में नन्दीग्राम की जनता ने वास्तविक विपक्ष की भूमिका निभायी है। उसने अपने प्रतिरोध संघर्ष को सालभर तक टिका कर रखा है।

अब नन्दीग्राम को कतह कर लिया गया है। वैसा ही जश्न जैसे हरेक विद्रोह को कुचलने के बाद सत्ता का जश्न!

तो क्या अब उम्मीद कविता की आखिरी पंक्ति में भी नहीं बची रह पायेगी? क्या फिल्मों के समापन दृश्य में बच्चों की किलकारियाँ असम्भव बना दी जायेंगी? चीड़ियों की उड़ान से महकते आसमान और चींटियों के सपनों से भरी जमीन की दुनिया खत्म हो जायेगी? क्या बसन्त अब फिर नहीं आने के लिए आखिरी बार जा चुका है? सुना है नन्दीग्राम में इस बार की फसल नहीं बोयी जा सकी है। सुना है परती खेतों में लोगों की लाशें और ईंट-पत्थर हैं, मगर नन्दीग्राम की मिटी में उम्मीद की जो फसल लहलहा रही है उसके बारे में क्या किसी ने नहीं सुना है? आगे बढ़ना या पीछे हटना लड़ाई का हिस्सा है। पीछे हटना हथियार डालना नहीं है। जनता के सपने अब भी जिन्दा है।

नन्दीग्राम की जनता के सपनों का अन्त नहीं हुआ है। वह मोरचे से पीछे हटी है। उसने आत्मसमर्पण नहीं किया है। वह फिर उठेगी अपने मोरचे को वापस लेने के लिए। मुथंगा, छत्तीसगढ़, कलिंग नगर, सिंगुर, नन्दीग्राम सहित तमाम जगहों के लोग इस मोरचे में शामिल होंगे। वे अपनी खाट नहीं छोड़ेंगे। अब वे हरे साँप को ढूँढ रहे हैं। उसे इस दुनिया से दूर कहीं खदेड़ने की तैयारी कर रहे हैं।

पश्चिम बंगाल में राशन की दूकानों पर हमला

❑ रविन्द्र कुमार

पिछले महीने भारत के मुख्य न्यायाधीश के.जी. बालकृष्णन ने कहा कि गहराई तक जड़ जमा चुके भ्रष्टाचार के कारण आम आदमी बुरी तरह त्रस्त है और सार्वजनिक वितरण प्रणाली भी इस बुराई की जकड़ में है। उन्होंने उल्लेख किया कि कुछ राज्यों में निर्धारित कोटे का एक भी दाना लोगों तक नहीं पहुँचा है। पुलिस की निष्क्रियता और भ्रष्टाचार अब लोगों को कानून अपने हाथ में लेने के लिए बाध्य कर रहा है। उनका यह कथन सही साबित हुआ है।

मुर्शिदाबाद द्धप. बंगालऋ में गुस्साये ग्रामीणों ने एक राशन डीलर और उसके परिवार को घर से बाहर घसीटकर एक पेड़ से बाँध दिया और अपने लिए आये सरकारी आनाज को खुले बाजार में बेचने का उनपर आरोप लगाया। इसी क्षेत्र की एक अन्य घटना में ग्रामीणों ने पहले डीलर से लेखा-जोखा माँगा और फिर राशन दुकान को लूट लिया। देवीदासपुर द्धबंहरामपुरऋ में तो पुलिस और रैपिड एक्शन ोर्स की मौजूदगी में ही भीड़ ने राशन की दुकान पर हमला किया और अनाज लूट लिया। पिछले महीने दुर्गापुर में ग्रामीणों ने वामपन्थी पार्टी की एक सभा पर हमला कर दिया और उन नेताओं की पिटाई की जिन्होंने राशन दुकानदारों की जमाखोरी के खिलाफ शिकायत नहीं सुनी।

1966-67 के बाद पहली बार भीड़ द्वारा अनाज भण्डार पर हमले की ऐसी घटनाएँ लगातार सुनने को मिल रही हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली में भ्रष्टाचार पूरे देश में ैला हुआ है। पश्चिम बंगाल ही अकेला ऐसा राज्य नहीं है। उपभोक्ता मामलों, खाद्यान्न और सार्वजनिक वितरण मन्त्रालय की एक रिपोर्ट बताती है कि पिछले तीन वर्षों में 31,585 करोड़ रुपये का गेहूँ और चावल जो सबसे गरीब लोगों के लिए भेजा गया, राशन दुकानों से नहीं बँटा क्योंकि उसे चोरी से बाजार में बेच दिया गया। योजना आयोग के एक अध्ययन के अनुसार केन्द्रीय भण्डार से भेजे गये सरकारी अनाज का केवल 42 ीसदी ही गरीबों तक पहुँचता है। राशन की दुकानों से गायब किये जाने वाले ऐसे अनाजों से खाद्यान्न का विशाल चोर बाजार तैयार होता है। यही कारण है कि साढ़े चार लाख सस्ते गल्ले की दुकानों के विशाल नेटवर्क के बावजूद गरीबों तक राशन पहुँचाने के सरकारी दावों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इतने भारी पैमाने पर होने वाली लूटपाट को क्या बिना नेताओं और अधिकारियों की मिली-भगत के अन्जाम देना सम्भव है? सरकार चाहे तो इस पर आसानी से अंकुश लगा सकती है। लेकिन इस चोर बाजारी को बन्द करने के बजाय सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली को ही समाप्त करने पर आमादा है।

साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था को अंगीकार करने और विश्व व्यापार संगठन के शर्तनामों से बन्धने के बाद सरकार ने आम जनता के खिलाफ जो षड्यन्त्र किये हैं उनमें खाद्य सुरक्षा को मटियामेट करना सबसे घृणित साजिश है। भारतीय खाद्य निगम को धीरे-धीरे तोड़ना और उसकी जगह देशी-विदेशी अनाज व्यापारी कम्पनियों को बढ़ावा देना, किसानों से सरकारी खरीद जानबूझ कर कम करना, राशन दुकानों के अनाज के कोटे में कटौती करना, विदेशों से महँगे दर पर अनाज का आयात करना, अनाज की उपज को हतोत्साहित करके उसकी जगह विदेशी बाजारों के लिए नकदी सल को बढ़ावा देना, ये सभी कदम सरकार ने विदेशी सरमायादारों के मुनाफे के आगे देश की खाद्य सुरक्षा को बलि चढ़ाने के लिए उठाये हैं।

खाद्य सुरक्षा पर कुठाराघात के चलते एक तरु देश में अकाल मौत, भुखमरी और कुपोषण तेजी से बढ़ रहा है, लोग साँवाघास, पेड़ की छाल या चूहा मार कर खा रहे हैं, परिवार समेत आत्महत्याएँ कर रहे हैं, अपने मासूम बच्चों को बेच रहे हैं। दूसरी ओर, जनता का गुस्सा अपने सबसे करीब दिखने वाले दुश्मनों पर ूट रहा है। बंगाल में राशन की दुकानों पर हमले की घटनाएँ इसी जनाक्रोश की अभिव्यक्ति है।

सवाल यह है कि गरीबों के मुँह से निवाला छीनने की मुहिम तो सरकार ने पूरे देश के पैमाने पर छेड़ रखी है फिर बंगाल में ही इसे लेकर लोगों का गुस्सा क्यों ूट रहा है? दरअसल बंगाल की जनता में जनवादी चेतना देश के अन्य हिस्सों से अधिक है। वहाँ के लोग किसी भी अन्याय, अत्याचार या अपने अधिकारों में कटौती का विरोध करने के लिए उठ खड़े होते हैं। ऐसा जनमानस तैयार करने में कभी वहाँ की वामपन्थी पार्टियों की भी भूमिका रही है। लेकिन आज इन सत्ताधाारी वामपन्थी पार्टियों का रंग-ढंग बदल गया है और उनका ध्यान मध्यमवर्ग की जरूरतों तक ही सीमित हो गया है। सरकार चलाने की मजबूरी में बदली गयी प्राथमिकता के कारण वे दिनोंदिन आम आदमी से दूर होते गये हैं। आम जनता की न्यूनतम जरूरतों के प्रति इन पार्टियों के सरोकार और कर्त्तव्यबोध खत्म होते जाने और अपनी समस्याओं का समाधान न होने के चलते अब जनता खुद ही उठ खड़ी हो रही है और ऐसी कार्रवाइयों को अन्जाम दे रही है।

नन्दीग्राम और सिंगूर में हिंसक प्रतिरोध की घटनाओं के पीछे भी यही कारण है। सेज के लिए आज पूरे देश में ही किसानों से जमीन छीनी जा रही है लेकिन आमतौर पर हर जगह लोग इसे सर झुका कर चुपचाप स्वीकार कर ले रहे हैं। लेकिन बंगाल की जनता सरकार के ऐसे तानाशाहीपूर्ण फैसलों को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। जब उनकी नुमाइन्दगी करने वालों ने उनसे मुँह मोड़ लिया तो इसका स्वाभाविक नतीजा है कि सड़क के आदमी सी ी कार्रवाई के लिए सड़क पर उतरें और अपनी तकदीर अपने हाथ में लेने का प्रयास करें।

डोव केमिकल्स के काले कारनामे

सरकार का कुत्सित सहयोग, छात्रों का शानदार प्रतिरोध

❑ राजकुमार

3 दिसम्बर 1984 को भोपाल में जहरीली गैस के रिसाव से 20-22 हजार लोगों की जान लेने और करीब अढ़ाई लाख लोगों को अभिशप्त जिन्दगी जीने पर मजबूर करने वाली कुख्यात अमरीकी कम्पनी यूनियन कार्बाइड अब एक दूसरी अमरीकी कम्पनी डोव केमिकल्स के कब्जे में है जो भारत में अपना धन्धा चमकाने के लिए तेजी से पाँव फैला रही है। डोव केमिकल्स यूनियन कार्बाइड के कुकृत्यों की अपनी नयी जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ रही है। उसने ऐलान किया है कि वह जहरीला कचरा साफ नहीं करेगी और किसी तरह का मुआवजा भी नहीं देगी। यहाँ की सरकार, सरकारी कलपुर्जे और टाटा घराना उसके इस दम्भपूर्ण रवैये की हिमायत कर रहे हैं।

जून 2007 में भोपाल गैस काण्ड के पीड़ितों के बीच काम करने वाले कार्यकर्ताओं को गैस काण्ड से सम्बन्धित कुछ दस्तावेज प्रधानमन्त्री कार्यालय से हाथ लगे। इन दस्तावेजों से साफ झलकता है कि भारत सरकार अमरीकी दबाव के आगे झुककर डोव केमिकल्स को सभी प्रकार की कानूनी जिम्मेदारियों से मुक्त करने जा रही है।

मई 2005 में उर्वरक और रसायन मन्त्रालय ने एक जनहित याचिका दायर करके अदालत से अपील की थी कि वह डोव केमिकल्स से मुआवजे के तौर पर 100 करोड़ रुपये जमा करवाये क्योंकि यूनियन कार्बाइड का नया मालिक होने के चलते उसकी देनदारियों के लिए कानूनन वही जिम्मेदार है।

सरकार के दूसरे विभाग वाणिज्य और उद्योग मन्त्रालय ने डोव केमिकल्स द्वारा भारत में सम्भावित पूँजी निवेश को देखते हुए कैबिनेट सचिव के नेतृत्व में एक समूह का गठन किया जो यह तय करेगा कि डोव केमिकल्स की कानूनी जिम्मेदारी का फैसला अदालत पर छोड़ा जाये या नहीं। इसके अलावा यह समूह कम्पनी के अंशधारियों और उद्योग जगत के साथ रतन टाटा के प्रस्ताव पर भी विचार-विमर्श करेगा जिसके तहत रतन टाटा लगातार उद्योग जगत की सहायता से डोव की मदद के लिए एक फण्ड बनाने की वकालत कर रहे हैं।

रतन टाटा ने योजना आयोग के अध्यक्ष मोनटेक सिंह अहलूवालिया और वित्त मन्त्री पी. चिदम्बरम को इस सम्बन्ध में एक पत्र भेजा था जिसमें उन्होंने निजी पूँजीपतियों के सहयोग से एक फण्ड बनाने की पेशकश की थी। प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने भी इस प्रस्ताव पर गम्भीरता से विचार करने को कहा था। चिदम्बरम और अहलूवालिया दोनों ही सहमत थे कि हाईकोर्ट को इस मामले में फैसला देने की जरूरत नहीं है।

उर्वरक और रसायन विभाग ने शुरू से ही टाटा के प्रस्ताव का विरोध किया है। 5 जनवरी के अपने वक्तव्य में विभाग ने कहा है कि डोव का एक प्रतिनिधि विभाग के पास आकर हाईकोर्ट में दायर की गयी याचिका को वापस लेने या इसमें सुधार करने के लिए कहा था। लेकिन विभाग ने किसी भी प्रकार के फेर-बदल से साफ इन्कार कर दिया क्योंकि मामला न्यायालय में विचाराधीन है।

जुलाई 2004 में आलोक प्रताप सिंह ने एक जनहित याचिका दायर करके केन्द्र सरकार और राज्य सरकार से केन्द्र सरकार और राज्य सरकार से गैस काण्ड वाली जगह से जहरीला रासायनिक मलबा हटाने की माँग की। उसने कोर्ट से माँग की कि डोव केमिकल्स को वातावरण प्रदूषित करने के लिए जिम्मेदार ठहराया जाय। याचिका में यह भी कहा गया कि डोव से अपेक्षित है कि वह गैस पीड़ितों के स्वास्थ्य और पर्यावरण को हो रहे नुकसान की भरपाई करे जिसका प्रभाव आने वाले कई दशकों तक जारी रहेगा।

प्रतिवादी डोव केमिकल्स ने इस बात पर जोर दिया कि इस मामले से उसका कोई लेना-देना नहीं है। इसलिए उसके बजाय यूनियन कार्बाइड व ऐवरेडी इण्डिया को प्रतिवादी बनाया जाय। कोर्ट ने डोव केमिकल्स का नाम तो नहीं हटाया लेकिन यूनियन कार्बाइड और ऐवरेडी इण्डिया को भी नामजद कर लिया।

डोव केमिक्ल्स ने भारत में यूनियन कार्बाइड के कारनामों की कोई भी जिम्मेदारी लेने से इन्कार किया है जबकि अमरीका में यूनियन कार्बाइड के चलते भविष्य में एस्बेस्टस के प्रदूषण से निपटने के लिए उसने 220 करोड़ डालर का बजट रखा है। भोपाल के सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का कहना है कि यदि डोव केमिकल्स अपने देश में यूनियन कार्बाइड की जिम्मेदारियाँ उठा रही है तो भारत में वह उनसे क्यों मुकर रहा है।

कैबिनेट सेक्रेटरी बी.के. चतुर्वेदी ने 6 अप्रैल को एक नोट में लिखा है कि भविष्य की सम्भावनाओं को देखते हुए ऐसे मामलों को लम्बे समय तक कोर्ट में लटकाने के बजाय इन्हें सही ढंग से हल कर लेना चाहिए क्योंकि पूँजी निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए अनिश्चितताओं और बाधाओं को हटाना प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए।

कैबिनेट सैक्रेटरी ने यह भी कहा कि उर्वरक एवं रसायन मन्त्रालय को कोर्ट में दायर अपनी अर्जी वापस ले लेनी चाहिए क्योंकि इससे यह गलत सन्देश जायेगा कि भारत सरकार डोव केमिकल्स को भोपाल गैस काण्ड के लिए उत्तरदायी मानती है।

कैबिनेट सेक्रेटरी ने इस मामले के लिए गठित मन्त्रियों के समूह को भी बदलने की सिफारिश की है, ताकि डोव के पक्ष में आम जनता के बीच जनमत तैयार किया जा सके।

काँग्रेस प्रवक्ता और मध्य प्रदेश हाईकोर्ट में डोव केमिकल्स के वकील अभिषेक मनु संघवी ने भी प्रधानमन्त्री को लिखे पत्र में कहा है कि डोव को भोपाल गैस काण्ड और भोपाल घटना-स्थल की सफाई के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि डोव केमिकल्स (अमरीका) और अनुषांगी कम्पनी डोव केमिकल्स (इण्डिया दोनों अलग- अलग हैं।

इन सारी बातों का निचोड़ यही है कि सरकार और उसका पूरा तन्त्र लगातार इस प्रयास में है कि डोव केमिकल्स को भोपाल घटना-स्थल की सफाई और मुआवजे की जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया जाय। साम्राज्यवाद के साथ गाँठजोड़ और उसके आगे निर्लज्ज आत्मसमर्पण की यह कोई अकेली घटना नहीं है। जहरीले जहाज तोड़ने की इजाजत, अमरीकी कचरा फेंकने की इजाजत, एनरॉन कम्पनी को दी गयी सहूलियतें और ऐसे ही ढेर सारे साजिशाना फैसले अब देश में रोज मर्रे की घटनाएँ होती जा रही हैं। लेकिन सामाजिक संगठनों और बु(जीवियों के लगातार हस्तक्षेप के कारण इस खास मामले में अब तक उनकी साजिश नाकामयाब रही है। (डोव के सम्बन्ध में और अधिक जानकारी के लिए देखें- देश-विदेश-अंक 5)

हैरानगी और खुशी की बात है कि इण्डियन इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (आई.आई.टी.) के जिन छात्रों को राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों से कटे हुए कैरियरवादियों के रूप में जाना जाता है उन्होंने अपने कुछ प्राध्यापकों और भूतपूर्व छात्रों के साथ मिलकर इन सरकारी षड्यन्त्रों का विरोध शुरू कर दिया है। डोव केमिकल्स ने हाल ही में पुणे में अपना एक नया शोध एवं विकास केन्द्र स्थापित किया है। इस केन्द्र के लिए आई.आई.टी. के विद्यार्थियों की नियुक्ति के मुद्दे पर विरोध शुरू हुआ। कुछ पूर्व छात्रों, शिक्षकों और विद्यार्थियों ने यह सवाल उठाया कि क्या आई.आई.टी. को ऐसे बड़े उद्यमों से सम्बन्ध रखना चाहिए जो अपनी नैतिक और कानूनी जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ती हों? उन्होंने आई.आई.टी. मद्रास के डायरेक्टर को एक प्रतिवेदन दिया जिसमें कहा गया है कि नैतिकता का तकाजा है कि विवादास्पद अतीत वाली डोव जैसी कम्पनियों को परिसर-नियुक्ति के लिए नहीं बुलाया जाय। 26 अक्टूबर 2007 को आई.आई.टी. मद्रास में एक खुला विचार विमर्श का आयोजन करके डोव केमिकल्स के कुकृत्यों का पर्दाफाश किया गया। ऐसा ही आयोजन आई.आई.टी. मुम्बई और खड़गपुर में भी किया गया। खड़गपुर के छात्रों ने अपने वार्षिक जलसे में डोव केमिकल्स को प्रायोजक बनाने से इन्कार कर दिया और उसे परिसर नियुक्ति में भी नहीं बुलाया गया। आई.आई.टी. कानपुर के छात्रों ने इन्जिनियरों के एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में डोव केमिकल्स को प्रायोजक बनाय जाने के खिलाफ अभियान शुरू किया है।

आई.आई.टी. के भूतपूर्व छात्रों ने अक्टूबर माह में डोव केमिकल्स को ब्लैकलिस्ट करने का अभियान शुरू किया। 1000 भूतपूर्व छात्रों और प्राध्यापकों ने हस्ताक्षर करके इस अभियान का समर्थन किया। उन्होंने सभी सात आई.आई.टी. संस्थानों से अपील की है कि वे डोव केमिकल्स को अपने संस्थानों में किसी प्रकार की भूमिका या साझेदारी से अलग रखें। अभियान के संचालकों का कहना है कि कम्पनी को जहरीला रसायन साफ करना होगा और पीड़ितों को हर्जाना देना होगा। साथ ही उसे अदालत में आपराधिक मुकदमों का भी सामना करना होगा, वरना कम्पनी भारत में जहाँ कहीं भी जायेगी उसे ऐसे ही प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा।

डोव केमिकल्स के खिलाफ आई.आई.टी. संस्थानों के छात्रों, पूर्व-छात्रों और अ यापकों का यह अभियान अभिजात संस्थानों में जागरुकता की सुगबुगाहट को दर्शाने वाला एक आशाजनक संकेत है। एक दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगम और उसकी पीठ पर हाथ रखने वाले भारतीय शासक गिरोह के खिलाफ यह प्रतिरो। कितना कारगर होगा यह कहना मुश्किल है, लेकिन भविष्य के लिए यह एक उम्मीद भरी नयी शुरुआत है।

डोव केमिकल्स के कुऔत्य

- कृषि मन्त्रालय के अधिकारियों को 1996 से 2001 के बीच अपने तीन कीटनाशकों के पंजीकरण के लिए डोव केमिकल्स ने घूस दिया। इसके लिए सी.बी.आई. ने उसपर मुकदमा किया है।
- इन कीटनाशकों में डर्रुबेन भी शामिल है। जहरीले प्रभाव के कारण डोव के अपने देश अमरीका में यह रसायन प्रतिबन्धित है जबकि इसी कीटनाशक की बिक्री से डोव कम्पनी ने भारत में बेहिसाब मुनाफा कमाया।
- डण्डियन ऑयल ने डोव केमिकल्स के साथ तकनीकी सहयोग को समाप्त कर लिया क्योंकि कम्पनी ने यूनियन कार्बाइड द्वारा पेटेन्ट करायी गयी तकनीक को अपना बताकर इस्तेमाल करने की कोशिश की।
- डोव केमिकल्स अमरीका की 50 बड़ी कम्पनियों में शामिल है। इसके बावजूद प्रदूषण फैलाने के चलते अमरीकी पर्यावरण सुरक्षा एजेन्सी ने उसपर शिकंजा कसा है।
- इसी एजेन्सी ने इस कम्पनी को मिशीगन और टिटबावासी नदियों को साफ करने का हुक्म दिया है जिसे कम्पनी ने प्रदूषित किया है।
- अमरीकी संस्था-पेस्टिसाइड एक्शन नेटवर्क की ताज रिपोर्ट-''रासायनिक अतिक्रमण! हमारे शरीर के भीतर मौजूद कीटनाशक और बड़ी कम्पनियों की जवाबदेही'' में बताया गया है कि ऐसे तमाम जहरीले रसायन जो शरीर को नुकसान पहुँचाते हैं, डोव केमिकल्स दशकों से बना रही है। इनकी मात्रा शरीर में कितनी है और इनका मानव शरीर पर कितना घातक प्रभाव पड़ता है, इसकी जानकारी लोगों को बहुत कम है।
- 1960 के दशक में वियतनाम यु) में नापाम की बिक्री के लिए डोव केमिकल्स को पूरे अमरीका में छात्रों के विरोध का सामना करना पड़ा था और कई तकनीकी संस्थानों ने अपने यहाँ डोव के आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

जैव ईंधन

करोड़ों लोगों का निवाला छीन लेंगी मोटर गाड़ियाँ

❑ अभिलाषा

अमरीका और यूरोपीय संघ ने अपने देश में वाहनों के ईंधन में 20 ीसदी ऐथेनॉल मिलाने का ैसला किया है। इसी तर्ज पर भारत सरकार ने भी सन् 2008 तक पेट्रोल में 10 ीसदी ऐथेनॉल मिलानें का निर्णय लिया है। ऐसी ही खबरें कई और देशों से आ रही है। दुनिया भर में तेजी से जैव ईंधन के कारखाने लगाये जा रहे हैं। पूरी दुनिया के टुकड़खोर बु)जीवी, र्जी पर्यावरणवादी और हर चीज से मुनाफा निचोड़ने को आतुर पूँजीपति इसके उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए तरह-तरह के तर्क गढ़ रहे है। इसके स्याह पक्ष को छुपा कर इसके लाभ ही लाभ गिनाए जा रहे हैं, हमारे देश में भी इसका उत्पादन बढ़ाने के पक्ष में माहौल तैयार किया जा रहा है।

अगर आजादी के बाद देश में पैदा हुए मुठ्ठी भर नव कुबेरों के नजरिए से देखा जाये तो ऐथेनॉल उत्पादन के लाभ ही लाभ नजर आते हैं लेकिन इस जैव ईंधन के उत्पादन से देश को जो नुक्सान होगा, वह किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को क्षोभ और आक्रोश से भर देने वाला है।

ईंधन बनाम खाद्यान्न-भारत सरकार की आगामी वर्षों में 110 लाख हैक्टेयर जमीन पर जट्रोफा उगाने की योजना है। इसके अलावा मक्का, तोरिया, गन्ना इत्यादि सलों से भी जैव ईंधन बनाने की योजना है। इसके लिए पेट्रोलियम के आयात पर होने वाले खर्च में कमी और उपभोक्ताओं को सस्ता पेट्रोल-डीजल उपलब्ध कराने का तर्क दिया जा रहा है।

दुनिया के धनी देश जो ऐथेनॉल के उत्पादन पर जोर दे रहे हैं उनके लिए यह तर्क सही हो सकता है, क्योंकि इन देशों में भोजन की समस्या हल हो चुकी है और ईंधन वहाँ के एक बड़े उपभोक्ता वर्ग की दैनिक जरूरतों में शामिल है। ये देश ही दुनिया के अधिकांश ऊर्जा और पेट्रोलियम का उपभोग कर रहे हैं। लगातार खत्म हो रहे तेल भण्डारों व ऊर्जा संकट के दूरगामी समाधान के लिए ये देश भारत जैसे गरीब देशों के कृषि ढाँचे को अपने स्वार्थों के अनुरूप ढालने में लग गये है। साम्राज्यवादी देशों की इस चिन्ता से हमारे देश का वह छोटा सा हिस्सा भी चिन्तित हो गया है जो देश में कुल ईंधन खपत का बड़ा हिस्सा उपभोग करता है।

यहाँ सवाल प्राथमिकता का है कि हमारे लिए भोजन और ईंधन में पहले क्या जरूरी है। जो देश मानव विकास सूचकांक के मामले में लगातार पिछड़ रहा हो, वहाँ जनता को भर पेट भोजन जुटाने या थोड़े से अमीरों की ईंधन खपत में किसे प्राथमिकता देनी चाहिए? हमारे देश में 80 ीसदी लोगों को अपनी आय का 50 ीसदी से अधिक हिस्सा भोजन पर ही व्यय करना पड़ता है। अभी भी 20 करोड़ लोग 13 से 20 रु. प्रतिदिन खर्च पर गुजारा करते हैं, जिनकी स्थिति प्रतिदिन एक किलो आटा खरीदने की भी नहीं है।

पिछले कुछ वर्षों में खाद्यान्न की बढ़ती कीमतों के कारण ऐसे परिवारों की संख्या में लगातार इजा हुआ है। ऐथेनॉल उत्पादन से हालात और भी बदतर होगें। ऐथेनॉल उत्पादन से धनी उपभोक्ता वर्ग के लिए तेल की आपूर्ति बढ़ेगी और उन्हें सस्ता तेल उपलब्ध होगा। इसके चलते जट्रोफा जैसी सलें उगाने से खाद्य सलों के क्षेत्रफल में कमी होगी और खाद्यान्न उत्पादन गिरेगा। इसके अलावा अनाज और तेलहन से सीधे ऐथेनॉल तैयार करने पर खाने के लिए और भी कम अनाज और खाद्य तेल उपलब्ध होगा तथा पहले से आसमान छूती इनकी कीमतें और तेजी से बढ़ेंगी। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह कुचक्र ऐसे समय में रचा जा रहा है जब विश्व का खाद्यान्न भण्डार पिछले 34 वर्षों के न्यूनतम स्तर पर है।

आजादी के बाद अनाज के आयात पर निर्भरता कम करने के लिए खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ावा, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से लोगों तक सस्ता राशन पहुँचाने और भारतीय खाद्य निगम जैसी संस्थाओं द्वारा अनाज के भण्डारण और वितरण के द्वारा कीमतों पर नियन्त्रण से देश में एक हद तक खाद्य सुरक्षा प्रणाली विकसित हुई थी। इससे अकाल और भुखमरी के कारण होने वाली मौतों में उल्लेखनीय कमी आयी थी। आवश्यकता इसे और अधिक मजबूत करने की थी, लेकिन तरह-तरह के बहानें बना कर अब इन योजनाओं को समाप्त किया जा रहा है। अनाज के मामले में रही-सही आत्मनिर्भरता को भी समाप्त करके देश को महँगे विदेशी अनाजों के आयात पर निर्भर बना दिया गया। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को देश में अनाज व्यापार की छूट और

अब जैव ईंधन को बढ़ावा देना, सब एक ही साजिश के अंग हैं। इसका मकसद देश के खाद्य सुरक्षा कवच को तोड़कर लोगों को बाजार की अन्धी ताकतों के हवाले करना है जहाँ अनाज से रोटी बनेगी या ईंधान निकलेगा, यह इस बात से तय होता है कि किस काम से इस व्यवस्था पर काबिज सरमायादारों का मुनाफा अधिक बढ़ेगा।

पर्यावरण प्रदूषण

एक रिपोर्ट के अनुसार जैव ईंधन के प्रयोग से वाहनों द्वारा होने वाले कार्बन मोनो आक्साइड के उत्सर्जन में कमी आयेगी। जिससे ग्लोबल वार्मिंग को रोका जा सकेगा। लेकिन रिपोर्ट में यह नहीं बताया गया कि जैव ईंधन के लिए उगाई जाने वाली जट्रोफा जैसी फसलों से पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव कहीं ज्यादा खतरनाक हैं।

जट्रोफा के पौधे से एक लीटर पेट्रोल प्राप्त करने में सिंचाई के लिए 3500 लीटर पानी की आवश्यकता होगी जबकि हमारे देश के 80 फीसदी लोगों को पीने योग्य पानी उपलब्ध नहीं है। इसके अलावा इसमें प्रयोग होने वाली रसायनिक खाद से ओजोन परत को और भी अधिक नुकसान पहुँचेगा। जहाँ पर पुराने तरह की खेती के बदले जट्रोफा की फसल उगाई जाएगी वहाँ की जैव विविधता नष्ट होने से पारिस्थितिक सन्तुलन भी प्रभावित होगा।

मुनाफाखोरी की हवस में आज प्राकृतिक संसाधनों का अन्धा-धुन्ध दोहन किया जा रहा है। बड़ी-बड़ी मिलों द्वारा रोज टनों विषैले रसायन हवा और पानी में मिलाये जा रहे हैं। ओजोन परत को होने वाले नुकसान की परवाह किये बिना एयर-कंडीशनर और फ्रिज के उत्पादन और उपभोग को बढ़ावा दिया जा रहा है। देश की नदियों के जल में घुले हानिकारक तत्त्वों का स्तर मनुष्य एवं वन्य जीवों की सहनसीमा से कई सौ गुना ऊपर पहुँच चुका है। औद्योगिक देशों का रेडियोधर्मिता फैलाने वाला कचरा भारतीय तटों पर लाया जा रहा है। हजारों एकड़ कृषि योग्य भूमि पर महँगी आवासीय कॉलोनियाँ और सेज बनाकर पर्यावरण को नुकसान पहुँचाया जा रहा है। जबकि इस विकृत विकास का लाभ भी आम आदमी को नहीं मिला है। ऐसे में करोड़ों लोगों की कीमत पर पर्यावरण के इस नुकसान की भरपाई का तर्क न केवल हास्यास्पद है बल्कि क्रूरतापूर्ण भी है।

औषि संकट का समा ाान

गुलाम भारत में अंग्रेज अपने देश के कपड़ा उद्योग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारतीय किसानों से नील, कपास, जूट इत्यादि की खेती कराते थे। इसी के कारण देश में खाद्यान्न की कमी पैदा हुई और अकाल व भुखमरी के कारण लाखों लोगों की मौतें हुईं लेकिन कम्पनी और जमीन्दारों ने किसानों से जबरदस्ती नील की खेती करवाना जारी रखा।

जट्रोफा उस जमाने की नील की खेती का ही आधुनिक संस्करण है। यह एक ऐसी जहरीली फसल है जिसका किसान सीधे कोई प्रयोग नहीं कर सकते। गन्ना, गेहूँ, धान व सब्जियों जैसी परम्परागत फसलों का प्रयोग तो किसान अपने उपभोग के लिए भी करते हैं और इनका एक स्थानीय बाजार भी होता है। लेकिन जट्रोफा की एक मात्र खरीददार इसके बीज से तेल निकालने वाली कम्पनियाँ ही होंगी जो किसानों से कान्ट्रेक्ट के जरिए इसकी खेती करायेंगी। किसान अपनी फसल बेचने व खाद, बीज आदि के लिए इन कम्पनियों का मोहताज होगा। गुजारे की खेती करने वाले देश के 80 फीसदी किसान वर्ष में एक बार नकदी फसल बेच कर साल भर तक महँगा अनाज और दूसरी दैनिक जरूरतें पूरा करने के लिए कर्ज लेने पर बाध्य होंगे और अन्ततः इसका परिणाम अधिकांश किसानों के खेतों और साथ ही जीवन से बेदखली के बढ़ते सिलसिले के रूप में सामने आयेगा।

हाल ही में प्रकाशित संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट ने जैव ईंधन के पैदावार को 'मानवता के खिलाफ अपराध' करार दिया है। जैव ईंधन को बढ़ावा दिए जाने के चलते स्वाजी लैण्ड में भयानक अकाल आया है और वहाँ आपातकालीन खाद्य सहायता पहुँचाना पड़ा है। निर्यात को बढ़ावा देने के लिए वहाँ की सरकार ने प्रमुख खाद्य कैसावा से ऐथेनॉल बनाना शुरू किया था। किसी देश की जनता की तेलघानी में पेराई करके ऐथेनॉल निकालने से कहीं ज्यादा अमानवीय और क्रूरतापूर्ण है, ऐसी योजना पर अमल करना जो उन्हें अकाल और भुखमरी से तड़पा-तड़पा कर मारती हो।

दुनिया की इस साम्राज्यवादी नयी विश्वव्यवस्था में धनी देशों की अधिक क्रयशक्ति और उनकी जरूरतों से यह तय हो रहा है कि किसी देश में कौन सी फसल उगायी जायेगी। जनता के मुँह से निवाला छीन कर निर्यात के लिए जैव ईंधन का पैदावार इसी का नतीजा है।

इन बातों को हमारे शासक अच्छी तरह जानते हैं। फिर भी सरकार देश भर में एक करोड़ 40 लाख हेक्टेयर जमीन पर जट्रोफा की खेती की योजना पर अमल कर रही है। इसके परिणामस्वरूप लाखों देशवासी विस्थापन और भुखमरी के शिकार होंगे। यह देश की करोड़ों जनता के प्रति जानबूझ कर किया गया अपराध नहीं तो भला और क्या है?

साइबर अपराध और साइबर युद्ध : समस्या, कारण और समाधान

❑ विक्रम

रेलवे आरक्षण के लिए आरक्षण खिड़की पर या एटीएम से पैसा निकालने वाली लम्बी लाइन में खड़े होने की परेशानी तब कितनी बढ़ जायेगी जब यह पता चले कि इन्टरनेट व्यवस्था में अनियतकालीन गड़बड़ी हो गयी है? इन्टरनेट व्यवस्था में गड़बड़ी के चलते मौसम की गलत जानकारी से फसलों के चौपट होने या तूफान में फँसकर मछुआरों की मौत का मामला हो या क्रेडिट कार्ड से खरीददारी करते समय बिल में गड़बड़ी का मामला, इन्टरनेट प्रणाली का ठप्प होना एक गम्भीर समस्या है।

इससे सम्बन्धित एक भयानक मामला सोवियत संघ से अलग हुए एक छोटे से देश एस्टोनिया में सन् 2007 में सामने आया। वहाँ की इन्टरनेट प्रणाली पर घातक हमले किए गये जिससे इन्टरनेट व्यवस्था कई ह"तों तक ठप्प रही। सरकारी विभागों, समाचार माध्यमों और बैंक सेवाओं के कम्प्यूटरों ने इस हमले की चपेट में आकर काम करना बन्द कर दिया। एस्टोनिया ने रूस पर इस हमले का आरोप लगाया है। उसका मानना है कि रूस उसके आर्थिक और राजनीतिक सुरक्षा को नष्ट कर देना चाहता है। इस हमले की प्रतिक्रिया में एस्टोनिया ने सोवियत यु) की याद में बने सैनिक की ताम्र प्रतिमा को केन्द्रीय तालिनन चौक से हटवा दिया। रूस ने इन आरोपों को बेबुनियाद बताया।

जून 2007 की दूसरी घटना है पेंटागन के अमरीकी सुरक्षा विभाग के कम्प्यूटर नेटवर्क पर चीन का स्फल और घातक हमला जिसने नये विवादों को जन्म दिया है। इस घटना से कम्प्यूटर प्राणाली की सीमा और कमजोरी छिपी नहीं रह गयी है। कितनी गोपनीय सूचनाएँ हुई है। इसका खुलासा अमरीका ने नहीं किया है। इसी तरह की एक अन्य घटना में चीन पर आरोप लगाया गया कि उसने जर्मनी के चान्सलर और तीन मन्त्रालयों–विदेश, वित्त और अनुसन्धान मन्त्रालय के कम्प्यूटर प्रणालियों को अपने कब्जे में ले लिया, और उस पर स्पाइवेयर द्धजासूसी करने वाले सॉ"टवेयरऋ से हमले किये। जर्मनी के संघीय संवैधानिक सुरक्षा कार्यालय ने कफी सूझबूझ के साथ छानबीन करके बड़ी मात्रा में सूचनाओं की चोरी को रोका।

भारत के राष्ट्रीय सूचना केन्द्र ने भी चीन द्वारा इन्टरनेट पर आक्रमण की कई बार शिकायत की है जिसके दौरान 200 मन्त्रियों, प्रशासकों और सैन्य अधिकारियों के ई–मेल की जासूसी की गयी। एशिया पैसेफिक समाचार एजेन्सी ने बताया कि चीन ने आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के अति गोपनीय सरकारी कम्प्यूटर नेटवर्क को अपने कब्जे में लेने की कोशिश की है। चीन ने इन आरोपों को सिरे से खारिज कर दिया है। गौरतलब है कि रूस और चीन ने भी इसी तरह के आरोप अपने विरोधी देशों पर लगाये हैं।

एस्टोनिया की घटना एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर पहला साइबर हमला माना जाता है। इससे पहले इन्टरनेट के जरिये छोटी–मोटी चोरियों, जालसाजियों और दूसरे तरह के अपराधों को अन्जाम दिया जाता था जिनमें एक दो व्यक्ति या छोटे–बड़े संगठन ही शामिल थे। लेकिन इन सभी हमलों में उपयोग की जाने वाली जटिल तकनीक बहुत ही सक्षम विशेषज्ञों द्वारा तैयार सॉ"टवेयर और योजना का परिणाम है। यह किसी व्यक्ति विशेष की कारगुजारी नहीं हो सकती है। इन घटनाओं ने दो साम्राज्यवादी खेमाबन्दियों के बीच के कलह को प्रकट किया है। ऐसा जान पड़ता है कि इन्टरनेट की दुनिया में अमरीका, भारत और यूरोप के देश एक खेमा बना रहे हैं तो रूस और चीन दूसरा। हालाँकि खेमों का यह विभाजन और इसमें कई देशों की स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है।

साम्राज्यवादी देशों की यु) लिप्सा दोनों विश्वयु)ों से ही जग जाहिर है। आज के दौर में साइबर यु) द्धइन्टरनेट पर हमलेऋ भी साम्राज्यवादी यु) का एक और मोर्चा बनता प्रतीत हो रहा है। व्यापार यु), कूटनीतिक यु), मनोवैज्ञानिक

यु) और सैन्य यु) की हीश्रृंखला में एक और कड़ी जुड़ गयी है–साइबर यु)। इनमें से कोई भी यु) एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकता है। सबका अपना सीमित उद्देश्य है और सभी साम्राज्यवादी लूट को जारी रखने के एक ही सामान्य उद्देश्य से प्रेरित हैं।

अमेरीका और यूरोप के लगभग सभी सरकारी और गैर सरकारी काम-काज पूरी तरह कम्प्यूटर और इन्टरनेट पर आधारित हैं। रक्षा तन्त्र, सीमा में प्रवेश करने वाले वायुमान की निगरानी और मार्ग निर्देशन द्धट्रैफिकऋ प्रणाली, ट्रेनों में आरक्षण, स्टेशनों का सम्पर्क और पथ संचालन शेयर बाजार का कारोबार, केन्द्र और राज्य के बीच सूचनाओं का आदान-प्रदान, सरकारी काम-काज का लेखा-जोखा, बैंकिंग प्रणाली, इन्टरनेट से खरीददारी और इसी तरह की कई अन्य गतिविधियाँ कम्प्यूटर पर आधारित हैं। यदि कम्प्यूटर और इन्टरनेट प्रणालियाँ ध्वस्त हो जाएँ तो किसी भी देश की मौजूदा व्यवस्था पंगु हो जायेगी।

कम्प्यूटर और इन्टरनेट पर हमले और उससे जुड़े अपराध के लिए कुछ विशेष तरह के सॉ"टवेयरों का उपयोग किया जाता है। ये सॉ"टवेयर कम्प्यूटर उपभोक्ता की गैर जानकारी में उसके कम्प्यूटर से सूचनाओं की चोरी करते हैं और उसमें घुसपैठ करके कम्प्यूटर की कार्यप्रणाली को नुकसान पहुँचाते हैं। इस तरह के सॉ"टवेयर को शैतानी सॉ"टवेयर द्धमालवेयरऋ कहते हैं। शैतानी सॉ"टवेयर एक कम्प्यूटर से दूसरे कम्प्यूटर तक इन्टरनेट, सी. डी., "लापी डिस्क और पेन ड्राइव के माध्यम से आ-जा सकते हैं।ाइलों को खा जाने वाला कम्प्यूटर वायरस, इन्टरनेट की गति धीमी करने वाला कम्प्यूटर वार्म, जासूसी करने वाला स्पाइवेयर, जबरदस्ती विज्ञापन दिखाने वाला एडवेयर, छद्म वेश धारण करके कम्प्यूटर को नुकसान पहुँचाने वाला ट्रोजन होर्स–ये सभी अलग-अलग तरह के शैतानी सॉ"टवेयर हैं। ये सॉ"टवेयर कम्प्यूटर में मौजूद छिपी गलती और कमजोरी का ायदा उठाते हैं।

इन्टरनेट जालसाजी के उदाहरण

2007 के शुरूआती दिनों में ही साइबर अपराधियों ने स्वीडन के नोर्डिया बैंक से 250 ग्राहकों के बैंक खाते से लगभग पाँच करोड़ रुपये उड़ा लिये। 2006 में जालसाजों ने अमरीकी नागरिकों की 9 अरब रुपये की सम्पत्ति चुरा ली। साइबर जालसाजी से पीड़ित 2 लाख अमरीकी नागरिकों को 32,500 रुपये प्रति व्यक्ति के हिसाब से नुकसान हुआ। ब्रिटेन की महानगरीय पुलिस ने 2000 ब्रिटेनवासियों को ठगने वाले गिरोह का पर्दाफाश किया है जिनसे करोड़ों रुपये बरामद हुए हैं।

पिछले कुछ सालों से ब्राजील लगातार बैंक पासवर्ड चुराने वाले सॉ"टवेयर से परेशान रहा है। वित्तीय संस्थाएँ साइबर अपराधियों के लिए लुभावने लक्ष्य हैं। ब्राजील के ेडरेशन बैंक का अनुमान है कि सन् 2005 में ब्राजील को इसके चलते लगभग 7 अरब रुपये का नुकसान हुआ है। कई देशों की कम्प्यूटर आधारित व्यापारिक गतिविधियाँ लगातार साइबर अपराधा के साये में जी रही हैं। इसमें साइबर अपराधियों द्वारा बैंक का पासवर्ड चुराकर उपभोक्ता के बैंक खाते से पैसों की चोरी करना प्रमुख है। 2006 की अपेक्षा 2007 में दुगुने से भी ज्यादा साइबर चोरियाँ हुईं और इसके लिए पहले से भी ज्यादा उन्नत और जटिल तकनीकी का उपयोग किया गया। यहाँ तक कि जापान के नाभिकीय संयन्त्र से भी आँकड़े चुराये गये।

पूँजीवादी समाज में अपरा । भी मुनाफा कमाने और बढ़ाने का एक प्रमुख जरिया है। अगर चोरी की घटनाएँ नहीं होतीं तो इतने भारी पैमाने पर ताले का उत्पादन और व्यापार भला कैसे होता? सामानों में मिलावट करने वालों ने रसायन विज्ञान का काफी विकास किया है। अपरा ी नहीं होते तो पुलिस, वकील, अन्वेषण विज्ञान, वि। प्रयोगशाला (फोरेन्सिक लैब), अपरा । पर शो । करने वाले प्रोफेसर और न्याय ीशों की भारी जमात भी नहीं होती। ठीक इसी तरह साइबर अपरा । की दुनिया में शैतानी सॉफ्टवेयर नहीं होते तो इनसे लड़ने वाले एन्टीवायरस सॉफ्टवेयर बनाने वाली कम्पनियों के बेइन्तहा मुनाफे का क्या होता?

शैतानी सॉफ्टवेयरों का काला बाजार

शैतानी सॉ"टवेयरों की भी खरीद-रोख्त होती है और इनका बहुत बड़ा काला बाजार भी है जहाँ से हैकरों द्धऐसे व्यक्ति जो इन्टरनेट का इस्तेमाल आपराधिक काम के लिए करते हैंऋ के कब्जे वाले किसी कम्प्यूटर को एक सप्ताह के लिए मात्र 1700 रुपये में किराये पर लिया जा सकता है। दुनिया की इन्टरनेट से जुड़ी हुई पाँच ीसदी कम्प्यूटर मशीनें आज हैकरों के प्रभाव में हैं। क्रेडिट कार्ड

और एटीएम के सॉ"टवेयर को चुराने वाले सॉ"टवेयर की कीमत लगभग 1200 रुपये से 67,500 रुपये है। इन सॉ"टवेयरों को नशीलें पदार्थ और हथियार की तरह खरीदने, बेचने और हथियार की तरह खरीदने, बेचने और जमा करने के अलावा किराये पर भी उठाया जा सकता है जिसे कोई कम तकनीकी योग्यता वाला आदमी भी इस्तेमाल कर सकता है। जनवरी 2006 में माइक्रोसॉ"ट कम्पनी के एक सॉ"टवेयर द्धडब्लू. एम. ए.ऋ की निलामी 1,80,000 रुपये में की गयी जिसे हैकरों ने खरीदकर इन्टरनेट पर जारी शेयरों के दामों को ऩर्जी तरीके से बढ़ाने के लिए उपयोग किया। यह आश्चर्य का विषय है कि इन शैतानी सॉ"टवेयरों की खरीद-ऩरोख्त के लिए पूरी तरह वैधानिक बाजार भी है। इस तरह साइबर अपराध अब पूँजीपतियों के एक समूह के लिए मुनाफ़े का साधन बन गया है।

सामाजिक नेटवर्क और साइबर अपरा ।

साइबर अपराधियों ने ही नहीं बल्कि कई देशों की सरकारों ने भी गलत सूचनाओं का अम्बार लगाकर, सही ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत करके और तरह-तरह के उल्टे सीधे सर्वेक्षणों के द्वारा जनता के खिलाफ़ यु) छेड़ दिया है। इन्टरनेट पर भ्रामक और गलत सूचनाएँ देने वाली वेबसाइटों की भरमार है। कई बार साइबर अपराधी किसी सामाजिक और ज्ञानवर्धक वेबसाइट को विकृत करके उसमें अश्लील तश्वीरें जोड़ देते है। अश्लील वेबसाइट्स तो खुलेआम युवाओं को पथ भ्रष्ट कर ही रही हैं।

'मेरी तुलना' नामक वेबपेज ने लोगों के बारे में विश्वसनीय और गुप्त निजी जानकारी धोखे से लेकर उसे 400 रुपये में बाजार में बेच दिया। कुछ नटखट तत्त्वों ने इन्टरनेट के जरिये नेताओं और फ़िल्म अभिनेताओं को बदनाम करना शुरू किया है। जनता पर अत्याचार और शोषण करने वाली सरकारों ने भी लोगों को गुमराह करने के लिए गलत और मनगढ़ंत सूचनाएँ इन्टरनेट पर फ़ैला रखी है।

कम तकनीकी योग्यता के छोटे अपराधियों द्वारा जब बड़े साइबर अपराध को अंजाम दिया जा रहा है तो सॉ"टवेयर विशेषज्ञों से पूरी तरह सुसज्जित सॉ"टवेयर कम्पनियाँ क्या किसी देश के आर्थिक, राजनीतिक और सामरिक मामलों पर अपना नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकती हैं? ऐसा ही खतरा भारत को उन साम्राज्यवादी देशों से है, जहाँ से वह भारी मात्रा में सॉ"टवेयरों का आयात करता है।

साइबर युद्ध

किसी देश के आर्थिक, राजनीतिक, सामरिक और आधारभूत ढाँचे पर हमले के लिए इन्टरनेट कम्प्यूटरों के इस्तेमाल को साइबर यु) कहते हैं। आर्थिक हमले में व्यापार से सम्बन्धित खुफ़िया जानकारी हासिल करना, शेयर बाजार में गड़बड़ी या दूसरे देशों की पूँजी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेना शामिल है। विभिन्न मुद्दों पर लोगों की सोच को साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप ढालना भी राजनैतिक हमले के अन्तर्गत आता है। सामरिक हमले में कम्प्यूटरीकृत लड़ाकू वायुमान, उपग्रह प्रणाली और अन्य सुरक्षा तन्त्रों के नियन्त्रण को साइबर हमले से नष्ट कर देना शामिल है। आधारभूत ढाँचे पर हमले में कम्प्यूटरीकृत विद्युत व्यवस्था, जलापूर्ति, तेल आपूर्ति, संचार व्यवस्था, व्यापार और परिवहन व्यवस्था के संचालन को विकृत या ठप्प कर दिया जाता है। माना जा रहा है कि अमरीका और चीन के बीच साइबर कोल्ड वार की परिघटना शुरू हो चुकी है।

आस्ट्रेलिया के महाधिवक्ता ने घोषणा की है कि उनका देश साइबर सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए करोड़ों रुपये खर्च करेगा। क्या सभी देश इतनी बड़ी रकम खर्च कर सकते हैं? अगर नहीं तो अन्ततः कौन सबसे अधिक क्षति उठायेगा? साम्राज्यवादी देश तकनीकी और आर्थिक मामलों में कमजोर, तीसरी दुनिया के देशों पर नयी गुलामी थोपने के लिए साइबर यु) का सहारा ले रहे हैं। तकनीकी रूप से पिछड़े देश ही साइबर यु)ों में सबसे ज्यादा नुकसान सह रहे हैं। दुनिया पर वर्चस्व कायम करने की लड़ाई के चलते आज लगभग 120 देश साइबर यु) ओर उससे बचाव की तकनीक विकसित कर रहे हैं। पिछले साइबर हमलों ने पारम्परिक सुरक्षा के साधनों, जैसे-एण्टीवायरस और ऋायरबॉल को बिल्कुल बेकार साबित किया है। इसीलिए अब साइबर हमले और उससे बचाव के लिए नई और जटिल तकनीकी शोध हो रहे हैं।

साइबर अपराध और साइबर यु) के प्रति सचेत सरकारें नई रणनीति के तहत संविधान में बदलाव लाकर साइबर अपराधियों के लिए दण्डात्मक कानून बना रही हैं। नये कानूनों को लागू करने में सबसे बड़ी अड़चन साइबर अपराधियों का बहुत अधिक गतिशील और गुप्त रहना है। साइबर अपराधियों की शरण-स्थली बन चुके देशों पर

अन्तरराष्ट्रीय दबाव भी कारगर नहीं है। साइबर अपराधियों पर जितना अधिक कानूनी शिकंजा कसेगा, उनके अपराधों में उनती ही अधिक कुशलता, चतुराई और तकनीकी जटिलता आयेगी। साइबर चोरियों से आँकड़ो की सुरक्षा बैकअप कॉपी, कम्प्यूटर दर्पण और रैड तकनीकों के जरिये आंशिक रूप से ही सम्भव है। कई देशों की सरकारों ने बैंकों, सॉ"टवेयर कम्पनियों, सैनिक प्रतिष्ठानों और सार्वजनिक वितरण विभागों को शैतानी सॉ"टवेयरों से चौकन्ना रहने का निर्देश दिया है। ये प्रतिस्ठान साइबर प्रतिरोध बु)मता के द्वारा विदेशी हमले को पहचानकर और भेदकर उसे बेअसर करने की कोशिश करेंगे। लेकिन क्या साइबर अपराध को पूरी तरह मिटाना सम्भव है?

भारत के कम्प्यूटरीकृत शेयर बाजार में लगी हुई विदेशी सटोरिया पूँजी अत्यन्त शोषक प्रवृत्ति की है। इन सरमायादारों के लिए उसका बहुत अधिक गतिशील होना जरूरी है। इसलिए इन्टरनेट पर साइबर अपराध और साइबर यु) की काली छाया से छुटकारा पाने के लिए पूँजीपति जी तोड़ कोशिश कर रहे हैं। दूसरी तरु इन अपराधों और यु)ों से कुछ कम्पनियों को भारी मुनफा भी पैदा हो रहा है। पूँजीपतियों के हितों का यही आपसी टकराव इस पूरी प्रक्रिया को संचालित कर रहा है। साइबर यु) अब एक-दो पूँजीपतियों के हाथों से निकलकर अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करता जा रहा है।

1990 के बाद की एक ध्रुवीय दुनिया में साइबर यु) के माध्यम से फिर से खेमेबन्दी का प्रकट होना एक बार फिर साम्राज्यवादियों के बीच चिरस्थायी शतुत्रा को प्रकट कर देता है जिनके बीच मेलजोल और शान्तिपूर्ण सहस्तित्व किन्ही खास परिस्थितियों के चलते और कुछ ही समय के लिए हैं। सॉ"टवेयर तकनीक का उपयोग खुली प्रतियोगिता के लिए न होकर शेयर बाजार में कृत्रिम उतार-चढ़ाव लाने, आर्थिक क्षेत्र में एक-दूसरे को मात देने, दूसरों के बजारों पर कब्जा करने और सामरिक क्षेत्र में एक दूसरे को नुकसान पहुँचाने के लिए हो रहा है।

लेकिन क्या साम्राज्यवादी देशों के बीच युद्धों का फैसला बिना खून-खराबे के मात्रा साइबर युद्ध से होगा? नहीं! साइबर युद्ध तो वर्चस्व और वैश्विक कब्जे की लड़ाई का एक पहलू भर है। निर्णायक लड़ाई तो सैन्य हस्तक्षेप के बिना असम्भव है जिसमें जमीनी सेना की भूमिका निर्णायक होती है। जमीनी लड़ाई कितनी महत्वपूर्ण होती है यह ईराक और अफगानिस्तान के उदाहरण से साफ जाहिर है, जहाँ उच्चतम तकनीकों और खतरनाक हथियारों से सुसज्जित अमरीकी सेना बुरी तरह से हार रही है। इससे यह साबित होता है कि जमीनी लड़ाई में साम्राज्यवादियों का अन्ततः पराजित होना निश्चित है क्योंकि मुट्ठी भर भाड़े के सिपाही चाहे जितनी तबाही मचा लें, बहुसंख्य जनता का मुकाबला नहीं कर सकते।

देश की सुरक्षा करने वाले पुलिस और सैन्य अधिकारी भी धन-सम्पत्ति के लालच में पेशेवर अपराधी और हथियारों के तस्कर में बदल जाते हैं। यही काम भविष्य में कम्प्यूटर सुरक्षा की ठेकेदार कम्पनियाँ और इसके विशेषज्ञ भी करेंगे। और जब सुरक्षा करने वाले ही अपराधी बन जाते हैं तो अपराध की समस्या का समाधाान भला इस पूँजीवादी व्यवस्था में कैसे सम्भव है?

भ्रष्टाचार मुक्त और पारदर्शी प्रशासन के लिए इलेक्ट्रॉनिक शासन द्धई-गर्वनेंसऋ का सपना क्या इन परिस्थितियों में सम्भव है जब इन्टरनेट भी यु) और अपराध के अखाड़े में बदल गया है? वर्ग समाज में अच्छी से अच्छी योजना भी बेकार है।

इस साइबर अपरा ा पर एक और पहलू से भी विचार जरूरी है। पूँजीवाद में नई तकनीक जनता के शोषण को बढ़ाती है, जिससे पूँजी संचय को बढ़ाने में सहायता मिलती है। इसमें नई तकनीक का दोष नहीं है क्योंकि पूँजी के अि काि िक संचय और संकेन्द्रण की प्रव त्ति के चलते ही नये-नये अपरा ों का जन्म होता है। नई तकनीक तो गलत हाथों में पड़कर इन अपरा ों में विवि ता और जटिलता लाने में सहायक ही होती हैं। पूँजीवाद के रहते अपरा ा और युद्ध कभी खत्म नहीं हो सकते क्योंकि ये अपरा ा व युद्ध पूँजीवाद की उपज, उसके सहयोगी, सहवर्ती और सहजीवी हैं। दोनों में जीवन मरण का साथ है। इसलिए पूँजीवाद के विनाश और अमीरी-गरीबी के भेदभाव से मुक्त एक मानव केन्द्रीय समाज की स्थापना के द्वारा ही इन समस्याओं का समा ाान हो सकता है।